पर्यावरण की संस्कृति



वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर

पर्यावरण की संस्कृति

शुभू पटवा



वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास, चन्दन सागर
बीकानेर-334 001

प्रथम संस्करण : 1989
द्वितीय संस्करण 1990

मूल्य : पचपन रुपये मात्र

कला पक्ष : दिलीप चित्रकार

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स
चन्दन सागर, बीकानेर

ISBN 81-85127-19-0 (1st Edition)
ISBN 81-85127-25-5 (2nd Edition)

PARYAVARAN KI SAMSKRITI (Environment) •
by Shubhu Patwa
Rs. 55.00

सहभागिनी ऊपा को

निर्भय हो झेलती रही हर प्रहार, झंझावात

देती रही सम्बल, ऊर्जा

अपनी ओर से

कुछ समय से हमारे देश में पर्यावरण को लेकर तीव्र चिन्ता महसूस की जाने लगी है। क्रियात्मक रूप से विभिन्न तरह के काम और आन्दोलन भी देश में अनेक क्षेत्रों में चल रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से 'थार के पर्यावरण' को लेकर मुझे भी एक आन्दोलन में निकट से काम करने का अवसर मिला और इस तरह देश भर में चल रहे आन्दोलनों को कुछ-कुछ जानने का अवसर भी सहज ही प्राप्त होता गया। ज्यों-ज्यों मैंने इन आन्दोलनों को निकट से देखा त्यों-त्यों मुझे इसकी जरूरत भी अधिकाधिक महसूस होती गई। लेकिन मुझे लगा कि अब तक जो आन्दोलन चल रहे हैं वे या तो पेड़-पौधों, पहाड़, नदी-नालों को बचाने अथवा नये जंगल लगाने तक सीमित होकर ही चल रहे हैं। बहुत अंशों तक यह अत्यन्त जरूरी है। जिस तेजी से जंगल या वन नष्ट हो रहे हैं और हमारे प्राकृतिक जीवन पर जो दुष्प्रभाव दिखाई देने लगा है उसे देखते ऐसे कामों का मूल्य भी बहुत हो जाता है।

मुझे यह लगता रहा कि पर्यावरण के प्रश्न को इतने तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता। क्योंकि जंगल लगाना और वनों की रक्षा करना ही मात्र पर्यावरण नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि प्रकृति में जो कुछ विद्यमान है उसकी रक्षा या सवर्द्धन जंगल लगाने अथवा वनों की हिफाजत करने मात्र के ऐसे कामों से पूरी तरह संभव नहीं है जो सरकारी तंत्र या कुछ आन्दोलनों के माध्यम से हो रहा है।

ऐसा करना बहुत अच्छा और जरूरी काम है तब भी इसकी सार्थकता पूरी तरह से तभी असंदिग्ध हो सकेगी जब हमारा दृष्टिकोण बदले। जो भी आन्दोलन चल रहे हैं, यह बुनियादी बात समझनी चाहिए कि आज जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण बन गया है और विकास का जैसा नजरिया प्रचलित हो चुका है उसे बदला जाना जरूरी है।

यह बदलाव सरल नहीं है और तब तक तो और भी कठिन है जब तक ऐसे आन्दोलनों से सक्रिय रूप से जुड़े लोगों का नजरिया ही स्पष्ट न हो जाये। इस दृष्टि से यह पुस्तक लिखते समय मुझे जो कुछ पढ़ना-समझना पड़ा वह मेरे लिए बहुत लाभप्रद रहा और मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक उनके लिए भी काफी सहायक सिद्ध होगी जो पर्यावरण के साथ उससे जुड़े बुनियादी मुद्दों को

भी समझना चाहते हैं। मैं यह मानता हूँ कि परिपक्व और विकसित समझ के अभाव में होने वाले काम और उसे करने वाले कार्यकर्ता दूसरों के लिए ही अच्छे औजार साबित हो सकते है।

आज चारों ओर यही स्थिति है। विकसित प्रौद्योगिकी और विज्ञान भी आज क्या कुछ लोगों के स्वार्थों की पूर्ति के औजार ही नही है? ऐसा है, इसी कारण समग्र प्राणी जगत् के लिए यह विज्ञान और प्रौद्योगिकी श्रेयस्कर साबित नही हो रही है। यह बात मैंने इस पुस्तक मे कई स्तरो पर बार-बार स्पष्ट करने की कोशिश की है।

यह ठीक है कि वर्तमान स्थितियो मे रह रहे समाज को जहाँ तक वह जा चुका है वहा से पूरी तरह से लौटा पाना कठिन है। किसी बीच के रास्ते से भी कुछ बनता प्रतीत नही होता। अतः पर्यावरण और परिवेशिकी के प्रति सजग लोगों के लिए यह चुनौती भरा समय है। जीवन और मौत मे मे कभी बीच का रास्ता नही निकल सकता। इसमे से तो किसी एक को ही चुनना होता है। तब क्या कोई ऐसा भी होगा कि मृत्यु को चुने?

चाहे हम मृत्यु को न चुनें, पर हम अग्रसर उसी ओर हो रहे हैं। सहज मृत्यु एक स्वाभाविक क्रिया है, पर हम बलात् मौत के शिकार होने से यदि अपने को न बचा सकें तो यह हमारा दुर्भाग्य ही है। क्योंकि मनुष्य समाज अन्ततः विवेकशील प्राणी है। हमारा विवेक आज कसौटी पर है। इस पुस्तक से यदि अपनी कसौटी का परीक्षण करने की ओर उन्मुख हो सके तो मैं यह श्रम सफल मानूंगा।

यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा या सद्इच्छा मेरे मित्र श्री नन्दकिशोर आचार्य की ही थी। मुझे बार-बार इसके लिए अभिप्रेरित न किया जाता तो मैं यह काम शायद नही कर पाता। उनका ऐसा कहा मैं कितना'क कर पाता हूँ यह तो वे जानते हैं और कई बार काफी क्षुब्ध भी होते हैं, पर यह जो मैंने उनका कहा किया है उसमे दूसरा दबाव मेरे अनुज दीपचन्द सांखला का भी खासा रहा है। कभी सीधा मुझे और कभी आचार्य जी के द्वारा बार-बार मुझे इसके लिए कहा जाता रहा। तभी मैं यह काम पूरा कर पाया। इसलिए मुझ से भी अधिक सन्तोष शायद इन दोनो को है। मेरे घर के साथ रहने वाले सदस्य तो हर क्षण इस काम में मेरे सहायक रहे हैं। मैं इन सभी का कृतज्ञ हूँ।

शुभू पटवा

भीनासर,
31 अक्टूबर, 1988

अनुक्रम

पर्यावरण की संस्कृति

पर्यावरण की संस्कृति	13
श्रम का मानवीयकरण	31
औद्योगिक संस्कृति	39

प्राकृतिक सम्पदा

प्राकृतिक सम्पदा	51
ताकि सनद रहे	67
यह धरती	73
जल—जीवन भी है	81

थार का पर्यावरण

थार का पर्यावरण	93
वन और थार की सामाजिक वानिकी	98
गोचर-ओरण	106
दस्तखत	119
देखा-समझा	123



पर्यावरण की संस्कृति

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे पृथ्वी एक ऐसा नक्षत्र है जिसमें प्राण और वनस्पति दोनों हैं। इसीलिए इसका विशेष महत्व है। किसी अन्य ग्रह मे भी यह विशिष्टता हो सकती है, पर अभी तक हमे इसका पूरा ज्ञान नही है।

पृथ्वी पर प्राण और वनस्पति का हमेशा एक समतोल रहा है। सहज समतोल प्रकृति का स्वाभाविक गुण है। प्रकृति में जो कुछ विद्यमान अथवा दृश्यमान है उसमें मनुष्य सर्वोत्कृष्ट कृति है। प्रकृति का एक अनुपम-अनमोल अंग है। इसीलिए प्रकृति के सहज सन्तुलन मे जब किसी प्रकार का बिगाड़ होता है तो उसकी सर्वाधिक जिम्मेदारी मनुष्य समाज की होती है। उसी का दायित्व बन जाता है कि बिगाड़ मे उत्पन्न विसंगतियों को समाप्त करे और फिर से उसे पटरी पर लाये।

आज पर्यावरण, परिवेशिकी और प्रदूषण जैसे शब्दों का काफी शोर है। जब से पश्चिम में 'एनवायर्नमेन्ट, इकोलोजी और पोल्यूशन' के प्रश्न पर तीव्र चिन्ता होने लगी है, भारत में भी यह शोर तेज हो गया है। हमारे यहां यह समस्या आजादी के बाद पिछले बीस-तीस सालों से आये आधुनिक विकास के कारण अधिक गहन हुई है। जिसे आधुनिक शब्दावली में 'पर्यावरण और परिवेशिकी' कहते है उसे भारतीय पारम्परिक शब्दावली मे 'प्रकृति' कहा जाता रहा है।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से जब भारतीय संस्कृति के बारे में पूछा गया तो उनका उत्तर था भारत की संस्कृति न गावों की है और न शहरों-नगरो की। भारतीय संस्कृति 'अरण्य' संस्कृति है। हमारे इतिहास, परम्परा, दर्शन और संस्कृति का निर्माण 'अरण्य' मे ही हुआ है। महान ऋषि, महर्षि, विद्वान, दार्शनिक, तपस्वी अरण्य मे ही रहे और अपने क्रिया-कलापो से भारतीय मानस को प्रभावित किया।

मनुष्य का जो स्वरूप आज हमारे सामने है उसके आदि रूप का भी हम साक्षात्कार करें। प्राण का प्रादुर्भाव जल में हुआ। करोड़ों वर्षों तक पानी मे ही विभिन्न प्रकार की वनस्पतियो की उत्पत्ति होती रही और समाप्त

होती रही। विकास-विनाश का यह क्रम चलता रहा। युगों तक चले इस क्रम मे से ही स्तनपायी प्राणियों का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान युग यही स्तनपायी युग है जिसका सर्वश्रेष्ठ रूप मनुष्य है। आज जो मनुष्य पृथ्वी पर है उसी का प्रथम रूप आदि मानव है।

आदि मानव वनों में रहकर और रात पेड़ों की डालियों पर सोकर बिताता रहा। प्रथम विकास के बतौर उसने आग पर काबू पाया और इस तरह रात मे हिंसक प्राणियो, पशुओं से बचने के लिए आग जलाने का क्रम शुरू हुआ।

विकास का यह क्रम धीरे-धीरे चलता रहा। अपने आवास के लिए गुफाएं बनानी शुरू की। पेट भरने के लिए कन्द-मूल, फल और जंगल के पशु उसके आहार के साधन बने। जो कन्द-मूल, फल यह खाता उसके बीज जहां गिरते उससे होने वाले पौधे जंगल में सहज होने वाले पौधों से अधिक अच्छी तरह पनपते और अच्छे फल देते। जब उसने यह देखा तो उसके मन में भूमि को कुरेद कर बीज बोने का विचार जन्मा। इसी विचार ने 'हल' और कृषि को जन्म दिया।

विकास का यह क्रम अनवरत चलता रहा। आज जिस आधुनिक काल, विज्ञान और प्रौद्योगिकी से हमारा सम्पूर्ण 'प्रकृति सन्तुलन' या पर्यावरण बिगड रहा है, क्या उसका प्रादुर्भाव आदिकाल से चला आ रहा है?

यही प्रश्न खड़ा होता है कि तब क्या यह विकास एक 'बेजा' विकास है? यह नही होना चाहिए? इस पुस्तक में हमे इन्ही प्रश्नों के उत्तर खोजने है।

अब हम अरण्य संस्कृति को देखें। हमारे प्राचीनतम ग्रंथ वेद, महाभारत और रामायण है। ज्ञान, दर्शन और चरित्र का जो सम्पुट हमे इन ग्रंथों में मिलता है–वह बेजोड है। इन्ही ग्रंथों में हमे प्रौद्योगिकी और विज्ञान भी देखने को मिलते है। कथानकों के सहारे इन ग्रन्थों में वे सभी बातें बतला दी गई हैं जिनमे सभ्य मानव समाज की परिकल्पना की जा सकती है।

भारत का सांस्कृतिक आदर्श और परम्परागत आधार अध्यात्म रहा है। आज हम यह मानने लगे हैं कि मनुष्य की आवश्यकताएं अनन्त है। लेकिन इसको प्राप्त करने में आधुनिक विकास कभी सक्षम हो नही सकेगा—यह अब सर्वमान्य तथ्य समझा जाने लगा है। अनन्त की प्राप्ति केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही संभव है जो भारतीय परम्परा और संस्कृति मे हमे देखने को मिलती है। आधुनिक विकास ने भोगवादी संस्कृति को पनपाया है। उसे ही बलशाली बनाया है। इसी भोगवादी संस्कृति ने प्रकृति को अपना शत्रु मान लिया है। मनुष्य प्रकृति का स्वामी बन बैठा है और प्रौद्योगिकी का जो जाल

उसने फैलाया है उसमें प्रकृति का शोषण प्रमुख लक्ष्य है। यह पश्चिम की दृष्टि है।

ठीक इसके विपरीत भारतीय दृष्टि प्रकृति के शोषण की न होकर उसके संरक्षण की, समतोल और श्रद्धा की रही है। प्रकृति पर विजय पाने की धारणा तो पश्चिम की रही है। भारतीय दृष्टि में मनुष्य प्रकृति का स्वामी नहीं, उसकी सन्तान है। प्रकृति के साथ भारतीय जन का यही पारम्परिक रिश्ता भारत की 'अरण्य संस्कृति' है। यही 'अरण्य संस्कृति' आज के आधुनिक समाज में 'पर्यावरण की संस्कृति' के रूप में हमारे सामने है। लेकिन इसे देखने-समझने की दृष्टि मे आज भारी चूक आ गई है।

जब हम आधुनिक समाज की बात करते है तो यह स्पष्ट करना भी जरूरी है कि कैसा आधुनिक समाज, कौन-सा आधुनिक समाज ? आधुनिकता का तात्पर्य मेरी दृष्टि मे किसी भी चीज का ऐसा नूतन और नवीन रूप है जिसमें ऐसी कोई विकृति न हो जो मनुष्य की महत्ता को क्षीण करती हो। लेकिन आज आधुनिकता की पहचान पश्चिम के ज्ञान और यांत्रिक कौशल में निहित है। यंत्र पर दिनोदिन बढ़ती निर्भरता ने मनुष्य की महत्ता को समाप्त किया है। लेकिन ऐसा कोई भी समाज परम्परागत भारतीय दृष्टि से आधुनिक समाज नही कहा जा सकता।

इस प्रकार के विचारों पर यह आरोप सहज ही लग सकता है कि यांत्रिक कौशल और प्रौद्योगिकी के वर्तमान विकास को नाकारा मान लेने से क्या हम फिर से पाषाण-काल की ओर नही धकेल दिये जायेंगे ? ऐसा सोचने वाले वस्तुओं के विकास के हामी हो सकते है, मनुष्यों के विकास के नहीं। जब हम विकास की बात करते है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विकास किसका ? वस्तुओं का या मनुष्यों का ? तथाकथित आधुनिक विकास के अगुआओं की दिलचस्पी वस्तुओं के विकास में ही अधिक है। यह भौतिकवादी दृष्टि है जो भोगवाद पर अवलम्बित है। भोगवाद का पेट कभी भरता नही। उसकी लिप्सा जठराग्नि के माफिक होती है जो कभी शान्त नहीं हो सकती। जबकि भारतीय दृष्टि हमे बताती है कि यह प्रकृति सबका पेट भर सकती है, पर किसी एक का भी लालच पूरा नही कर सकता।

पर्यावरण या प्रकृति में आये इस असन्तुलन का दायी सर्वाधिक रूप से मनुष्य रहा है। जब हम सम्पूर्ण पर्यावरण या समग्र प्रकृति की बात करते है तो उसमें नदी, जल, जंगल, पहाड़, पशु-पक्षी, हवा ही केवल नही हैं। हमारे सामाजिक-आर्थिक सरोकार और सांस्कृतिक-राजनीतिक परिस्थितियां भी प्रभावित

होती हैं। इस तरह पर्यावरण का फलक काफी विस्तृत हो जाता है। बेशक प्राकृतिक पर्यावरण हमारे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक पर्यावरण को अधिक प्रभावित करता है। क्योंकि विकास की धुरी मे प्राकृतिक संसाधनों-स्रोतों का स्थान प्रमुख है।

अब तक जो कुछ होता रहा है वह मनुष्य के लिए, मनुष्य के हाथों हुआ है। पिछले सौ-डेढ सौ सालो में जो कुछ होता रहा उसका व्यापक असर पिछले बीस-तीस सालो से देखने में आ रहा है। और इन बीस-तीस सालों में जो कुछ हुआ है वह विकास के नाम पर हुआ है। विकास और इसी विकास से उत्सर्जित अपशेषों ने सम्पूर्ण पर्यावरण और परिवेशिकी के लिए गहन संकट खड़ा किया है। यह विकास विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बल पर हुआ है।

आधुनिक विकास के प्रवक्ता या प्रौद्योगिकी की अनथक वकालत करने वाले यह तर्क अक्सर देते रहे है कि आज दुनिया का जो नक्शा हमारे सामने है—क्या यंत्र और विज्ञान के अभाव में उसकी कल्पना की जा सकती थी ? लेकिन हम यह देखें कि जिसे विकास माना जा रहा है वह किस वर्ग के हिस्से मे आया। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी। सन् दो हजार तक दुनिया की आबादी लगभग सात सौ करोड़ हो जाएगी। विकास के लिए जो संसाधन अत्यन्त जरूरी है उनमे से एक ईंधन प्रमुख है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण संसाधन है। सन् दो हजार में अनुमानित सात सौ करोड़ आबादी को ईंधन की आपूर्ति के लिए 2300 करोड़ टन से अधिक कोयला चाहिए। अनुमान से पता चलता है कि यह खपत धनी वर्ग मे 67 प्रतिशत और निर्धन वर्ग में 33 प्रतिशत होगी। अब आबादी का अन्तर देखें। सन् दो हजार तक आबादी का जो अनुमान है उसमे धनी वर्ग 23 प्रतिशत और निर्धन वर्ग 77 प्रतिशत माना गया है। यह तो सन् दो हजार मे अनुमान की बात हुई। अब हम वास्तविक स्थिति को भी देखें।

सातवें दशक में दुनिया की आबादी में 31 प्रतिशत धनी लोग थे जो ईंधन के लिए 87 प्रतिशत कोयला खपा लेते थे। ठीक इसके विपरीत निर्धन वर्ग की आबादी 69 प्रतिशत थी, लेकिन ईंधन के लिए उन्हें मात्र 13 प्रतिशत कोयला ही मिल पाता था। ये आंकड़े संयुक्त राष्ट्र संघ के हैं और इन पर भरोसा करना गलत न होगा।

इस एक उदाहरण से यह जाहिर है कि यंत्र और विज्ञान ने जो विकास का महल खड़ा किया है वह दुनिया के कितने प्रतिशत लोगों को नसीब हुआ है। क्या इसे समग्र विकास की दृष्टि कहा जा सकता है ?

विकास की इसी असंगति ने हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक पर्यावरण को भी दूषित किया है, क्योंकि यह असन्तुलन सभी पक्षों को प्रभावित करता है और हर पक्ष मे विसंगतिया प्रतिबिम्बित होती रही है।

आगे के पृष्ठो में हम इन पर कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

विकास की बात कहने वाले भी दुहाई मानव समाज के विकास की ही देते है। अत. हमें थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए कि मानव समाज क्या है? कैसा मानव समाज हम इस धरती पर देखना चाहते है? मानव समाज क्या 'सम्पूर्ण प्रकृति' का ही एक हिस्सा नही है?

सम्पूर्ण प्राणी जगत् में मनुष्य सबसे भिन्न और उत्कृष्ट है। क्योंकि उसमे चेतना है, सृजनशीलता है, प्रज्ञा है। इसलिए मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। लेकिन वह प्रकृति की सम्पूर्णता का ही एक हिस्सा है। यह भारतीय दृष्टि है।

भारतीय दृष्टि से मनुष्य होने का अर्थ इस बात मे निहित है कि जो जैविक संसार है उसके साथ उसका व्यवहार कैसा है। सम्पूर्ण प्राणी-जगत् मे उसका स्थान बुनियादी तौर पर इसलिए भिन्न और विशिष्ट है कि वह स्वतन्त्र रूप से विचार करने की, सोचने की क्षमता रखता है। चूंकि उसमें स्वतन्त्र चेतना का गुण विद्यमान है इसलिए किसी भी कर्म या कारण के प्रति वह उत्तरदायी भी माना जाता है। ये ही दो आधारभूत बातें हैं जिनसे मानव समाज निर्मित होता है। यदि इन दो गुणो का समुचित विकास किसी मनुष्य में नही दिखायी दे तो मानना होगा कि वह देहधारी के तौर पर ही मनुष्य कहलाएगा।

जब हम यह मान लेते हैं कि जैविक ससार मे मनुष्य सबसे उत्कृष्ट, सक्षम और चेतनाशील है तो उससे यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि वह ऐसे कृत्य करे जो जीवन और जगत् को संरक्षण और पोषण दे सके।

जब जीवन और जगत् को पोषण देने की बात आती है तो हमें यह देखना होगा कि इस धरती पर जो कुछ विद्यमान या दृश्यमान है वह पोषित हो, पुष्ट हो। इस पर होने वाले किसी भी आन्तरिक या बाहरी आघात का प्रतिकार मानव समाज का दायित्व बन जाता है। यह दायित्व भी चेतनाशील मनुष्य का ही है कि वह यह समझे कि जो उससे कम समर्थ है उसे भी जीने का हक है और वह हक उसे प्रकृति से सहज ही प्राप्त है। अतः उसकी रक्षा हो और यह रक्षा मनुष्य अपने जाग्रत विवेक के माध्यम से कर सकता है। पशु-पक्षी और वनस्पतिया, पेड़-पौधे मनुष्य से कम चेतनाशील जैव हैं। उनका विनाश

यदि मनुष्य अपने लिए करता है तो यह मानना होगा कि वह वास्तविक अर्थों में न चेतनाशील है और न विवेकशील। इस प्रकार उसे दायित्व-बोध वाला भी नहीं कहा जा सकता।

इसीलिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी को मनुष्य की तुलना में यदि अधिक महत्व देने की बात कही जाती है तो यह माना जाना चाहिए कि सम्पूर्ण जैव-जगत् के साथ एक तरह से पाशविकता और अतिचार करने की बात को बल दिया जा रहा है। इसके मूल में भी मनुष्य ही है। क्योंकि प्रौद्योगिकी से स्वतंत्र चेतना और स्व-विवेक का विकास कभी भी संभव नहीं है। इसे समझ लेने के लिए यह जानना काफी है कि जिस 'न्यूक्लीय ऊर्जा' को दुनिया वरदान मान चुकी, वह वरदान है या अभिशाप।

इस पृथ्वी पर परमाणु ऊर्जा को मानव-जाति के उत्थान के लिए शान्तिपूर्ण महत्ता का एक अभिनव प्रयोग माना गया। लेकिन आज मानव जाति के लिए वह सबसे बड़ा खतरा साबित हो रहा है। परमाणु ऊर्जा के एल्फा, बीटा और गामा किरणों का जैविक संसार पर किस रूप में प्रभाव पड़ने वाला है यह वैज्ञानिकों को भली-भांति मालूम है। विकिरण से निकले अणु गोली की तरह शरीर को चीर कर अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। रूस में हाल में चेरनोबिल दुर्घटना (26 अप्रैल, 1986) के दुष्परिणाम भले ही छिपाये जा रहे हों या कहा जा रहा हो कि सभी दुष्परिणामों को निष्प्रभावी कर दिया गया है, पर अमरीकी जीव-विज्ञानी एच जे मूलर ने सन् 1927 में ही विकिरण से उत्पन्न होने वाले खतरों पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर वैज्ञानिकों के सामने यह साबित कर दिया था कि विकिरण से सीधा प्रभावित होने वाला तत्समय का व्यक्ति ही नहीं, बल्कि उसकी सन्तानें भी उसके दुष्प्रभावों से अछूती नहीं रह सकतीं।

परमाणु ऊर्जा के अवशेषों के निपटारे के बारे में भी स्पष्ट राय है। जो अवशेष नदियों या समुद्रों में छोड़ दिये जाते हैं वे धीरे-धीरे भूमिगत जल में मिल जाते हैं और उनकी 'रेडियो-एक्टिविटी' अन्ततः मिट्टी में रह जाती है। यही नहीं 'न्यूकलीय रियेक्टरों' की कार्यक्षमता एक निश्चित अवधि—बीस, पच्चीस या तीस वर्ष की होती है। इस अवधि के बाद इन रियेक्टरों के विघटन का खतरनाक प्रश्न खड़ा होता है। पर न उनका विघटन संभव है और न स्थानान्तरण। जाहिर है वे जहां खड़े होते हैं वहीं मिट्टी, जल और वायु को 'रेडियो एक्टिव' बनाते रहते हैं। यह क्रम शताब्दियों तक भी चलता रह सकता है। इस्तेमाल-शुदा ऐसे न्यूक्लीय ऊर्जा केन्द्रों का यह राक्षसी या 'डाकिनी' रूप सम्पूर्ण जीव-जगत् के लिए कितना घातक है, अब किसी के

लिए संदिग्ध नही रहा है। राजस्थान के कोटा शहर में परमाणु बिजलीघर मे से 'न्यूकलीय' रिसाव की बातें भी जब तब सुनने को मिल ही रही है। राजस्थान के लोग कोटा में इस 'डाकिनी' रूप को देख सकते है।

मनुष्य के स्वतंत्रचेत्ता और विवेकशील होने की बात हमने कही। यह भी माना कि मनुष्य होने का अर्थ भी यही है। तब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आविष्कारों से 'प्रकृति के समतोल' मे जो छेड़-छाड या असन्तुलन आया हे, उमका कारक भी यही स्वतंत्रचेत्ता या विवेकशील मनुष्य ही क्या नही है ?

सभ्य और विवेकशील मानव समाज के सामने आज यही चुनौती है। मानव समाज के ही हाथों आज हमारा पर्यावरण दूषित है और प्रकृति लुट रही है। इसका कारण खोजना अधिक जटिल नही है। आज कुछ गिने-चुने लोगो के हाथो मे अर्थ सत्ता केन्द्रित है। यह बात समूचे विश्व पर लागू है। इसी केन्द्रित अर्थ सत्ता की पिछलग्गू अनेक सरकारें हैं। इस अर्थ सत्ता के अपने स्वार्थ है। इनके मनो में प्रेम की जगह लोभ और करुणा की जगह बर्बर हिंसक वृत्ति हावी है। उनके लिए सभ्य होना वस्तुओं का या भौतिक ससाधनों का अम्बार लगा देना भर है। उनके लिए नैतिकता मनुष्य के अस्तित्व का बुनियादी धर्म नही है। नैतिक होने मे वे मानवत्व की सिद्धि नही मानते। बल्कि उनका लक्ष्य प्रकृति मे जो कुछ उपलब्ध है उसे निचोड़ लेना मात्र है।

इसीलिए केन्द्रित अर्थ सत्ता के बल पर बड़े पूजीपति और उद्योगपति ऐसे वैज्ञानिकों और प्रौद्योगिकीविदो को खरीद लेते हैं जो अपने कर्त्तव्यों को भूल चुके है। उनका अनुसधान, अन्वेषण मात्र सत्ता के उस केन्द्र को परिपुष्ट बनाये रखने के लिए होता है। दुर्भाग्य मे ऐसे वैज्ञानिको और प्रौद्योगिकीविदों की कमी नही है।

'रेडियो एक्टिविटी' के बारे मे अमेरिका की 'नेवल रेडियोलॉजिकल लेबोरे-टरी' ने जो कुछ कहा है उससे उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। बहुत विवशता भरी दशा में उसका यह कहना है—चूकि हमे यह नही पता कि मानव शरीर इन दुष्प्रभावो मे अपने-आपको पूरी तरह मुक्त कर सकता है या नही, इसलिए हमारे सामने यही रास्ता बच रहता है कि हम अपने मन मे एक ऐसा निर्णय ले ले कि मनुष्य 'रेडियो एक्टिविटी' की अमुक मात्रा बरदाश्त कर सकता है। यह विवशता क्या है। न जानने की इस विवशता या भ्रम मे पड़े रहना क्या वैज्ञानिक दृष्टि कही जा सकती है ? तब भी हम विज्ञान पर इतराते है। क्या यह अधकचरा ज्ञान भर नहीं है ? और क्या यह उचित है कि जो हम नही जानते उस पर आधिकारिक तौर पर कुछ कहें ?

इस पृथ्वी पर पन्द्रह लाख से भी अधिक जीव-जन्तु और वनस्पतियां, पेड़-पौधे हैं। ये सभी एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि यह 'प्रकृति' या 'पर्यावरण-परिस्थितिकी' एक ऐसा जटिल-दुरूह तंत्र है जिसे समझना बहुत कठिन है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी जो कुछ आज विकास के नाम पर कर रहे हैं वह साफ तौर पर बेसमझी से किये जाने वाले काम हैं जो मानवत्व से परे है।

हमें यह समझना भी जरूरी है कि प्रकृति में भी प्रतिवादी या बदला लेने की अटूट क्षमता है। उसकी शक्ति अपरिमित है, अतुलनीय है। वह शोषण को दीर्घ काल तक कभी नहीं सहेगी। ऐसे अनेक उदाहरण हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे।

प्रकृति की विविधता से लेकर भाषा, वेश-भूषा, धर्म और सामाजिक परम्पराएं सर्वत्र भिन्न-भिन्न रही है। हमारे सामाजिक जीवन का भी सही और वास्तविक पैमाना यही है कि इन सब के बीच एक सुव्यवस्था स्थापित हो। यह काम भी मनुष्य के हाथों में ही रहा है। सम्पूर्ण प्राणी-जगत् अथवा प्रकृति में ऐसी व्यवस्था हो कि विनाश की ओर खदेड़े जाने की चाही-अनचाही अथवा जानी-अनजानी प्रवृत्ति पर नियंत्रण लग सके। यह कैसे सम्भव हो सकेगा—आज के समाज के लिए एक चिन्तनीय सवाल है।

सी जी जुग ने सन् 1933 में अपनी पुस्तक 'मॉडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल' में लिखा है कि आधुनिक मनुष्य आज उन्नति की चरम सीमा पर है और कल वह उससे भी आगे निकल जाने वाला है। आधुनिक मनुष्य ने विज्ञान, शिल्प और संगठन के बारे में यह समझ लिया है कि वे कितने लाभकारी है, पर यह भी समझ लिया है कि वे कितने विनाशकारी हो सकते हैं। यह विकास मानव जाति की शुभाकांक्षाओं की दृष्टि से अधिकतम निराशाजनक है।

जुग यहां तक कहते है—कुल मिलाकर मेरा विश्वास है कि मैं यह कह कर अतिशयोक्ति नहीं कर रहा कि आधुनिक मनुष्य को, मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो, लगभग प्राणान्तक आघात पहुंचा है और परिणामस्वरूप वह घनी अनिश्चितता में जा पड़ा है।

हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के आधारभूत नियमों में सदा एक सुसंगति, एकता और समादर रहा है। विकास के नाम पर जब इसे पैरों तले रौंद दिया जाता है तो विद्वेष और घृणा पनपने लगती है। आज सम्पूर्ण समाज भौतिक बाहुल्य के कारण घृणा से भरा दिखाई पड़ता है। आज छल, बल,

भय, असत्य और निष्ठुरता ही जीवन की वास्तविकताएं बनी दिखाई देने लगी हैं। बेशक इन सबके बीच सत्य, प्रेम के आदर्श भी काम कर रहे हैं और छल, बल, भय की जड़ों को कुतरा भी जा रहा है। लेकिन आसुरी वृत्तियो का जो घना दबाव बढता जा रहा है उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। हमारे सामाजिक जीवन की यह दशा यन्त्र और विज्ञान से उपजे लोभ के फलस्वरूप है। सही अर्थों मे यदि सोचा जाय तो यन्त्र और विज्ञान लोभ के साधन नही होने चाहिए। लोभ की जगह प्रेम, करुणा और सहृदयता को स्थान मिलना जरूरी है। हमारे सामाजिक-सास्कृतिक पर्यावरण को सुदृढ़ बनाने के लिए यह जरूरी है। तभी उच्च मानवीयता के आदर्श कायम हो सकते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन कहते है—यदि हम एक दूसरे के प्रति दयालु नही है और यदि पृथ्वी पर शान्ति स्थापित करने के हमारे सब प्रयत्न असफल रहे है, तो उसका कारण यह है कि मनुष्यो के मनो और हृदयो में दुष्टता, स्वार्थ और द्वेष से भरी अनेक रुकावटे हैं जिनकी हमारी जीवन प्रणाली कोई रोकथाम नही करती। यदि हम आज जीवन द्वारा तिरस्कृत है तो इसका कारण कोई दुष्ट भाग्य नही है। जीवन के भौतिक उपकरणों को पूर्ण कर लेने मे हमारी सफलता के कारण हमारे मन मे आत्मविश्वास और अभिमान की एक ऐसी मनोदशा उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण हमने प्रकृति का ज्ञान संचय और मानवीकरण करने की बजाय उसका शोषण करना प्रारम्भ कर दिया है। हमारे सामाजिक जीवन ने हमे साधन तो दिये हैं, पर लक्ष्य प्रदान नही किये। हमारी पीढ़ी के लोगो पर एक भयानक अन्धता छा गई है।

लेकिन इस अन्धता का उपाय हमे ही खोजना है। प्रकाश की किरण कही से यदि फूट सकती है तो वह मनुष्य ही है। समाज का जो स्वरूप आज हमारे सामने है उसी में से एक ऐसे संसार की रचना करनी होगी जो सत्य, करुणा और सृजनशीलता पर अवलम्बित होगी। इसके लिए तीव्र संघर्ष होना स्वाभाविक है। उन शक्तियो को नियन्त्रित करना होगा जो अपनी हद से बाहर आ चुकी हैं।

यहा हमे अपनी हद यानी सीमा क्या है—यह भी समझ लेना चाहिए। हम अपने शरीर को ही लें। शरीर की रचना ही ऐसी हुई है कि उसमे हर तरह मे हदबन्दी है। यदि हम उस हदबन्दी को उलांघते है तो विषमता, दुःख और क्लेश को न्योतते है। इस हद को लाघने के जो भी कदम है वे प्रत्यक्ष या परोक्ष मे अन्ततः एक जकड़न ही खड़ी करते हैं। हम जो भी करना चाहे यदि कुदरती हद के मुताबिक करते रहे तो जकड़न से मुक्त रह सकते हैं।

जो व्यवस्था आज विद्यमान है—हमें उसी में से कुदरती हदों को खोजना होगा और उसे स्थापित करना होगा। बेशक यह जटिल और अत्यन्त संघर्षमय है, लेकिन यह परिस्थितियों का तकाजा भी है। आज अत्यधिक यंत्रीकृत व्यवस्था के बीच हम खड़े हैं। इसी में से हमें अपनी परम्परागत व्यवस्था को खोजना होगा। हमारे प्राचीन ग्रंथ इसमें अत्यन्त सहायक हो सकते हैं। यह दुर्भाग्य है कि इन्हें हम विस्मृत करते जा रहे हैं।

वराह मिहिर भारतीय ज्ञान परम्परा के उन महानतम विद्वानों में से एक हैं जिनकी तुलना योरोपीय रेनेसा के प्रमुख विद्वान लियोनार्डो द विंशी से की जाती रही है। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'वृहत्संहिता' भारतीय ज्ञान का विश्वकोष माना जा सकता है। लेकिन इस ग्रंथ के विशद अनुशीलन की आधुनिक भारतीय समाज ने कभी जरूरत ही नहीं समझी। पश्चिम का हस्तक्षेप और बेहद प्रभाव भारतीय मानस को इस दिशा में सोचने से विमुख रखने में निरन्तर सफल रहा है। इसी प्रकार हम अपने वेदों को देखें। चार वेद, चार उप वेद और छ. वेदांगों को जोड़कर वैदिक साहित्य की उपादेयता एक समय निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाती रही है। लेकिन इनमें निहित विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बारे में आज की धारा के तहत कभी भी विशद अध्ययन-अन्वेषण नहीं हुआ। पश्चिम के राजनेताओं और पूंजीपति वर्ग ने भारतीय वाङ्मय के इन उत्कृष्ट और शाश्वत ग्रंथों को रद्दी के टुकड़े करार देने में ही अपना हित और स्वार्थ देखा और बहुत हद तक वे इसमें सफल भी रहे।

आज विश्व भर में कंप्यूटर वैज्ञानिकों का भारी दबदबा है। भारत में सन् 1985 के बाद से 'कंप्यूटर' की जो आंधी उमड़ी है वह कहा जाकर शान्त हो बैठेगी यह तो समय ही बतायेगा, लेकिन वैदिक गणित ने दुनिया के कंप्यूटर वैज्ञानिकों में हलचल पैदा कर दी है। वैदिक गणित के आधार पर सोलह सूत्रों की एक खोज पुरी के शंकराचार्य दिवगत स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ ने की थी। उसके बाद रुड़की विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. नरेन्द्र पुरी ने हाल ही में अपनी विश्व यात्रा में वैदिक गणित की मौलिकता और आधुनिक उच्च प्रौद्योगिकी में इसकी उपयोगिता को लेकर जो व्याख्यान दिये हैं उससे लदन, वाशिंगटन, हार्वर्ड, शिकागो, हामबुर्ग, बर्लिन, मिलान, जिनेवा और पेरिस जैसे शिक्षा केन्द्रों का ध्यान खींचा गया है। वहां के शिक्षा संस्थानों व अनुसंधान संगठनों ने वैदिक गणित को अपनाने में उत्सुकता दिखाई है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी को वैदिक गणित यदि नई दिशा दे सकता है तो इसे भारतीय दृष्टि में निहित प्रौद्योगिकी ही माना जा सकता है। ठीक इसी तरह

चिकित्सा विज्ञान मे चरक सहिता और सुश्रुत उल्लेखनीय है। अग्नि पुराण आदि प्राचीन साहित्य, दर्शन और विज्ञान के ऐसे अनेक ग्रथ व हस्तलिखित पाडुलिपिया हमारे यहां विद्यमान है जो भारत के सास्कृतिक, शैक्षिक, सामाजिक वैभव को उजागर करते है। लेकिन दीर्घ काल तक साम्राज्यवादी ताकतों तथा व्यापारिक प्रतिष्ठानो के हाथो मे सिमटी शासकीय वृत्तियों की जकड़न में बन्धा भारतीय समाज अपने परखे-परखाये तरीके, परम्परा, ज्ञान और तकनीक को न केवल भूलता गया, उसे कपोल गल्प भी मानने लगा।

शायद यह विश्वास कर पाना कठिन हो कि राउरकेला और भिलाई मे जो इस्पात आज निर्मित होता है उससे बेहतर इस्पात व लोहा बनाने की तकनीक भारत में मौजूद रही है। सन् 1800 के आसपास देश में लगभग दस हजार भट्टिया ऐसी थी जिनसे लोहे और इस्पात का उत्पादन होता था। इनकी उत्पादन क्षमता 35 से 40 सप्ताह की कार्य अवधि मे बीस टन थी। कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि जो सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक पर्यावरण भारत का रहा है उसे पश्चिम की कलुषित छाया ने प्रदूषित किया है और इस प्रदूषण के कलमष को छांटने के लिए फिर से हमें अपनी परम्परा, ज्ञान और तकनीक तथा विद्याग्रहण करने के तरीको की ओर लौटना होगा। हमे एक समन्वित-सन्तुलित भारतीय दृष्टि पुनर्स्थापित-पुर्नविकसित करनी होगी। यह दृष्टि ही पर्यावरण की हमारी अपनी दृष्टि, हमारी अपनी संस्कृति हो सकेगी।

दरअसल भारतीय ताने-बाने को नष्ट कर अंग्रेजी हुकूमत ने अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए जो ढाचा निर्मित किया, स्वाधीनता के बाद हमने भी कमो-बेश उसी तर्ज पर उसे मंजूर कर लिया। इस देश को अपनी परम्परा मे लौटाने के लिए गांधी (मोहनदास करमचन्द गांधी) ने जो दृष्टि दी उस ओर किसी ने ध्यान ही नही दिया। सन् 1909 मे 'हिन्द स्वराज' पुस्तक के जरिये बापू ने भारतीय समाज और उसकी व्यवस्था व प्रबन्धन पर साफ-साफ दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दिया था।

'हिन्द स्वराज' को हम 'पर्यावरण की संस्कृति' का निचोड़ मान सकते है। दुर्भाग्य से स्वाधीनता के बाद इस देश को दिशा देने वालो ने इस छोटी-सी पुस्तक की जो उपेक्षा की उससे बडे हादसो की सम्भावनाएँ ही प्रबल हुई और अब तो वे घटित भी होने लगे है।

आजादी के बाद राज्य सचालन का ढाचा पूरी तरह से बदला जाना जरूरी था और हमारी समाज व्यवस्था तथा ऐतिहासिक परम्पराओ से उसका

रिश्ता कायम होना आवश्यक था। हमारे कर्णधार उसमे असफल ही नही रहे, निष्क्रिय भी रहे। भारतीय समाज व्यवस्था से राज्य व्यवस्था का ताल-मेल यदि ठीक प्रकार से बनाया जाता तो आदेश और अध्यादेशो के स्थान पर स्वतः स्फूर्त नीति और आयोजनाओ का निर्माण होता और उसी मे से ऐसी विकेन्द्रित व्यवस्था निकल आती जो नीचे के स्तर पर एक सुदृढ धरातल पर स्थापित होती।

भारत के सदर्भ मे हम इसे देखे तो पायेंगे कि भले ही भारत की प्राचीन शासन व्यवस्था 'राजतन्त्र' परम्परा वाली थी, पर उसमें नीति निर्धारण ऊपर से नही थोपा जाता था। शासन तत्र को संचालित करने के लिए जो शिक्षा-दीक्षा उस समय दी जाती थी वह आज के 'प्रबन्धन' जैसी नही थी। लोक मानस के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा ही वास्तविक शिक्षा-दीक्षा मानी जाती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे समाज और राज्य के कर्त्तव्यो का जो सांगोपांग विवेचन है उसके सामने लोकशाही की प्रगतिशीलता को भी नतमस्तक हो जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति, मनु स्मृति मे लोक मानस के प्रति श्रद्धा और परम्पराओ का जो समायोजन है आज उसके अध्ययन-अनुशीलन की जरूरत है। क्योंकि इस लोकशाही की तथाकथित प्रगतिशीलता आज बोझ साबित हो रही है।

राजा होने का अर्थ तब लोक मानस और लोक आदर्श की अनुपालना मे अपनी क्षमता की आहुति देना रहा है। तब सचमुच मे राज्य-धर्म लोक-धर्म का नियामक था और राज्य वास्तविक अर्थों मे समाज से नियंत्रित था। राज्य सत्ता की भी मर्यादा थी। उसका उल्लंघन समाज के प्रति एक तरह से अनादर था जो सरल नही था।

हम चाणक्य के काल को देखें तो पायेंगे कि राज्य का ढांचा भी तब खासा विकेन्द्रित था। गावो के समूह स्वतन्त्र होते थे और गांव समूहों के मुखिया राज्य दरबार मे वहा के प्रतिनिधि होते थे। ऐसे प्रतिनिधियों की सभा मे सर्वसम्मत राय पर नीतियों का निर्धारण होता था। कहने को पंचायत राज से लेकर ससद तक लोक प्रतिनिधियों की ऐसी ही सभाएं और ढाचा हम अपनी वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था मे भी देख रहे है, लेकिन हम यह सच भी जानते है कि सम्पूर्ण राष्ट्र की सत्ता आज तो केवल कुछ ही लोगों की मुट्ठी मे केन्द्रित होकर रह गई है। इसे राजनीतिक प्रदूषण की संज्ञा दी जा सकती है। यह भी जानने योग्य तथ्य है कि आज जिन्हे हम पिछड़ी जाति का वर्ग कहते है—लगभग हर सदी मे सत्ता इन्हीं के पास रही है। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे भारत मे लगभग 600 छोटी-बड़ी रियासतें थी। इनमे से आधे से अधिक रियासतों मे पिछड़ी जातियो या वनवासियों का राज्य था। यही क्यों,

भारत की यह सनातन परम्परा रही है कि नदी, जन, भूमि, पहाड़, पशु-पक्षी, जगल, पेड, वनस्पति का स्वामी कभी राज्य सत्ता नही रही । इनका उपयोगकर्ता या उपभोक्ता ही इसकी रक्षा और संवर्द्धन का जिम्मेवार रहा है । यह सब प्रकृति के दिये हुए उपहार माने जाते रहे हैं । इन पर किसी एक का स्वामित्व अथवा व्यापार का अधिकार भारतीय परम्परा मे पाप माना जाता रहा है । ये प्रकृति के दिये उपहार हैं जो जीवनाधार माने जाते रहे है। जब तक यह परम्परा रही तब तक श्री-समृद्धि और आनन्द भी सभी ओर रहा ।

राजस्थान का पश्चिमी क्षेत्र प्राकृतिक विकटता का एक नमूना है । यह थार का मरुस्थल कहलाता है । यहा प्रकृति के उपहार के बतौर विपुल मात्रा में पशुधन मिला । गौधन के कारण यह क्षेत्र घी-दूध का सरस क्षेत्र माना जाता रहा है । पांचवें-छठे दशक तक गौपालक न अपने धन (पशुधन ही को यहां धन की संज्ञा है) को बेचते थे और न दूध-छाछ को । प्रकृति की दुरुहता के बावजूद भारतीय परम्परा की अमिट छाप यहां इस रूप मे आजादी के बाद तक देखने को मिलती रही है। यहां 'दूध बेचना' और 'पूत बेचना' एक बराबर माना जाता रहा है । पूत बेचने का मतलब अपनी सन्तान का सौदा करने से है। लेकिन अब यह परम्परा लगभग अदृश्य हो गई है । अब तो 'डेयरी परियोजना' के आने से दूध बेचने की होड़ इस कदर लग गई है कि गौपालक अपने ही घर के नन्हे शिशु के लिए भी बमुश्किल दूध रखते हैं।

भारतीय समाज की ये परम्पराएं धीरे-धीरे टूटनी तो ब्रिटिश काल से ही शुरू हो गई थी । ब्रिटिश हुकूमत की कुटिल चालो ने हमारी परम्पराओं को ध्वस्त करना इसलिए जरूरी समझा कि इनके रहते लूट-खसोट के उनके इरादे पूरे नही हो सकते थे। महात्मा गांधी की अंग्रेजों के बारे मे यह स्पष्ट राय थी कि वे चालबाजी करके हमे रिझाते हैं और रिझाकर हम से काम लेते है । एक तरफ भारतीय जन का इस तरह शोषण होता था और दूसरी तरफ भारत की सम्पदा के विनाश का सुनियोजित षड्यंत्र निर्मित होता था। ब्रिटिश हुकूमत ने अपने हित-स्वार्थ के लिए जो षड्यंत्र खड़ा किया था, आजादी के बाद भी उस जुए को उतार फेंकने का सामर्थ्य हम हासिल नही कर पाये । शिक्षा पद्धति से लेकर अपनी प्राकृतिक सम्पदा तक के नीति-नियमों में हम यह झलक देख सकते हैं ।

शिक्षा पद्धति की उपादेयता का नमूना तो इतने मे ही हम देख सकते है कि जो नौकरशाही इस शिक्षा पद्धति में से निकली वह भारतीय जन के प्रति किस हद तक उत्तरदायी नजर आ रही है । भारतीय समाज के प्रति वर्तमान नौकरशाही

किसी भी स्तर पर उत्तरदायी नहीं है। ठीक इसके विपरीत सामाजिक-आर्थिक और कानूनी तौर पर यदि कोई वर्ग आज सर्वाधिक सुरक्षित-रक्षित है तो यही नौकरशाही वर्ग है। दूसरी ओर लोकशाही के हाल के जो ताम-झाम देख रहे हैं और उससे जो जन प्रतिनिधि निकल कर आते हैं, नीति-निर्धारण से लेकर क्रियान्वयन तक यश-अपयश के दायी वे ही होते हैं। जबकि हकीकतन उनके हाथ में कुछ भी करने के कोई प्रभावी अधिकार ही नहीं है। नौकरशाही का छल-बल इन जन प्रतिनिधियों को अपनी चालबाजियों से रिझाता रहता है। पिछले कुछ वर्षों से तो भारतीय राजनीति के परिदृश्य पर नौकरशाही और राजनेताओं का जैसा गठजोड़ निर्मित हुआ है उससे लोकशाही, विकेंद्रित शासन तंत्र, नैतिकता, न्याय और विधि सम्मत प्रबन्धन के शाश्वत अर्थ ही बदलते जा रहे हैं।

शिक्षा पद्धति की ही तरह प्राकृतिक वन सम्पदा के प्रति भी ब्रिटिश हुकूमत का नजरिया भारतीय दृष्टि और परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल रहा। वनों पर वनवासियों और घुमतू जातियों का परम्परागत अधिकार रहा है। यह अधिकार स्वाभाविक रूप से ही व्यवस्थित और मर्यादित भी रहा। ये मर्यादाएं सामाजिक विधि-निषेध पर आधारित थी जिन्हें न केवल पवित्रता का पुष्ट आधार प्राप्त था, सबके लिए समान रूप से आर्थिक सम्बल भी थी। वन, वृक्ष, जड़ी-बूटिया, चरागाह, शिकार और जलस्रोत आदि जब तक सामुदायिक आधार पर गांव के अपने नियंत्रण में रहे तब तक यह वन सम्पदा सुरक्षित थी। पूरी तरह से सबकी आवश्यकता पूर्ति में भी यह वन सम्पदा सक्षम था। पर अब वह बात नहीं रही।

ब्रिटिश हुकूमत के लिए ऐसी सन्तुलित और आत्मनिर्भरता की यह व्यवस्था कैसे उचित होती। इसे तोड़ने और वृहद् भारतीय जन को पराश्रित बनाने में ही हुकूमत की निहित सफलता छिपी थी। दीर्घ काल तक शासन में रहने और भारत की विपुल सम्पदा का शोषण कर अपनी एय्याशी का पेट भरने के लिए ऐसा कुछ करना उनके लिए जरूरी था कि लोग जल्दी से जल्दी उनके मोहताज हो जायें।

इसीलिए ब्रिटिश हुकूमत ने वनों का स्वामित्व अपने अधिकार में लेने का षड्यंत्र रचा। पहली बार सन् 1865 में 'भारतीय वन अधिनियम' का निर्माण किया गया। सन् 1894 में 'राष्ट्रीय वन नीति' घोषित हुई। यह सिलसिला आजादी के बाद अभी तक निरन्तर चला आ रहा है। इनके रहते वन कितने सुरक्षित रह पाये है और किस बेरहमी से वनों का विनाश हुआ—इसे हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे।

इन नीतियों से भारतीय समाज के बहुत बड़े हिस्से का सामाजिक-आर्थिक आधार छिन्न-विछिन्न हो गया। यह वर्ग आज भी दरिद्रता का अभिशाप भोग रहा है। स्वाधीनता के बाद भी इस अभिशाप मे कोई कमी नही आई। इसमे इजाफा ही हुआ है।

यहां फिर बापू (महात्मा गाधी) का उल्लेख अप्रासंगिक नही होगा। 'हिन्द स्वराज' में गांधी ने जो कुछ कहा उसका कई क्षेत्रों मे बड़ा उपहास किया गया। लेकिन गांधी अपनी बात पर पूरी तरह दृढ़ थे। उनकी बातो का जिस तरह उपहास हुआ--बहुत असह्य होते हुए भी गांधी उससे विचलित नही हुए वल्कि अपने अभिप्राय को और दृढता से स्पष्ट किया।

स्वतंत्र भारत का कैसा रूप होगा उसका चित्र सन् 1922 में ही गांधी ने खीच दिया था। 'यग इंडिया' मे 9 मार्च, 1922 को गाधी ने लिखा--स्वराज्य में रेलें होंगी, किन्तु उनका उद्देश्य भारत का सैनिक या आर्थिक शोषण नही होगा, बल्कि उनका उपयोग भीतरी व्यापार बढ़ाने और तीसरे दर्जे के मुसाफिरो के जीवन को काफी आरामदेह बनाने में किया जायेगा। तीसरे दर्जे की मुसाफिरी करने वाली जनता जो किराया देती है, उसका कुछ वदला उसे मिलेगा। कोई यह आशा नहीं करता कि स्वराज्य में रोगों का सर्वथा अभाव होगा। इसलिए स्वराज्य मे अस्पताल तो अवश्य होंगे, परन्तु यह आशा रखी जाती है कि तब अस्पतालो का उद्देश्य भोग विलास के रोगियों की अपेक्षा दुर्घटनाओ के शिकार होने वालों की सेवा करना अधिक होगा। बेशक, चरखे के रूप मे यंत्र भी होंगे। आखिर तो चरखा भी एक नाजुक यंत्र ही है। इसमें मुझे कोई शंका नही कि स्वराज्य मे भारत मे कई कारखाने खडे होंगे, जिनका उद्देश्य लोगो को लाभ पहुंचाना होगा, न कि आजकल की तरह जनता का खून चूसना। जल सेना का तो मुझे कुछ पता नही, लेकिन इतना अवश्य जानता हूँ कि भावी भारत की स्थल सेना के सैनिक भारत को गुलाम बनाये रखने और दूसरे राष्ट्रों की आजादी छीनने के लिए रखे गए भाड़े के टट्टू नही होंगे। तब स्थल सेना बहुत कुछ घटा दी जायेगी, उसमें अधिकाश स्वयं-सेवक होंगे और उसका उपयोग आन्तरिक व्यवस्था रखने के लिए पुलिस शक्ति की तरह किया जायेगा। स्वराज्य मे कानून होंगे और कानूनी अदालतें भी होंगी, परन्तु वे लोगों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए होंगे, न कि आज की तरह एक नौकरशाही के हथियार होंगे, जिसने एक सम्पूर्ण राष्ट्र को शक्तिहीन वना दिया है तथा जो उसे और भी शक्तिहीन बनाने पर तुली हुई है। अन्त में स्वराज्य में जो चाहे उसे लंगोटी पहनने और खुले मे सोने की स्वतंत्रता होगी। लेकिन मुझे आशा है कि आजकल की तरह लाखो आदमियों के लिए

एक मैला सा चिथडा पहनकर घूमना जरूरी नहीं होगा, जो आवश्यक कपड़ा खरीदने का साधन न होने से आज लगोटी का काम देता है। न स्वराज्य मे लाखो लोगो को मकानो के अभाव मे थके हुए और भूखे शरीरो को खुले मे आराम देना पड़ेगा।

गाधी के उपरोक्त विचार शायद एक बार हमे अटपटे लगें। यह सोचा जा सकता है कि पर्यावरण से इन विचारो का क्या सरोकार। लेकिन इन बातों मे गाधी जिस तरह के समाज और जीवन की अपेक्षा करते है–यही हमारा सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण है। गांधी ने इसे बहुत सहज ढंग मे सामने रख दिया है।

यह कहा जा सकता है कि क्या गाधी के इन विचारो के आधार पर कोई समाज निर्मित किया जा सकता है? क्या व्यावहारिक तौर पर यह सभव है? क्या यह मात्र दिवास्वप्न तो नही?

इन प्रश्नो से अलग हट कर स्वराज्य के बाद से इस समय तक जो स्थिति भारत की है, हम उस ओर थोडा झाक लें। गाधी का कहा या बताया आज के भारत मे *'नही' के बराबर प्रतिबिम्बित हो रहा है।* सीधे से हम कह सकते हैं कि गांधी के सपनो वाला यह भारत नही है। तब जो भारत आज है, फिर वह ऊबाऊ क्यो है? उत्तर स्पष्ट है कि गाधी के रास्ते नही चलकर भी हम सुख और आनन्द कहा पा सके? तब गाधी के विचारो को आजमाने और उनके परिणामों को परखने की ही आज जरूरत है, न कि उस पर शका करने की।

गाधी के ये विचार ऐसे जीवन मूल्यो को इंगित करते है जो मानवमुखी कहे जा सकते है। ऐसी व्यवस्था और प्रौद्योगिकी जो मानव प्रकृति या सामान्य जीवन्त प्रकृति से भिन्न न हो—यदि अपनाई जाती है तो उसमे वह ऊबाऊपन निश्चय ही नही रहेगा जिससे हम आज बुरी तरह से ग्रस्त है। गाधी के विचार हमे उपयुक्त और सही साबित होते दिखाई देते है क्योकि आज जो ताना-बाना हमारे चारो ओर खड़ा है वह गांधी के सुझाये ताने-बाने से सर्वथा विपरीत या प्रतिकूल दिशा वाला है। अत. सही दिशा की पहचान हमारे लिए स्वतः ही सरल हो जाती है।

गाधी पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वे विज्ञान, प्रौद्योगिकी और प्रगति के विरोधी है। 'हिन्द स्वराज' मे उन्होंने इन आरोपो का न केवल सशक्त जवाब दिया है बल्कि एक सुसंगत दृष्टि और सुगम मार्ग भी दिखाया है। यह केवल भारतीय जन मानस के लिए ही नही है अपितु एक जागतिक दृष्टि इसमे निहित है।

विज्ञान, प्रौद्योगिकी और प्रगति का मूल्यांकन आखिरकार किस तरह की कसौटी से किया जायेगा। वस्तुओ के विकास से मूल्याकन किया जाये या जीवन विकास से। आज जिस परिस्थिति से सम्पूर्ण मानव समाज घिरा हुआ है उसमे प्रकृति, विज्ञान और प्रौद्योगिकी सबका समावेश अनिवार्य हो गया है। लेकिन हमे यह मानना चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी मे हम वैसा विवेक नही भर सकते कि आवश्यकतानुमार वह स्वतः अपने आपको नियंत्रित करले। ठीक इसके विपरीत प्रकृति को यह बखूबी पता रहता है कि कब और कहाँ उसे अपने कदम रोकने है। प्रकृति पर विजय पा लेने के मिथ्या अहकार से ग्रस्त हम लोग प्रकृति के इस अन्त.चक्र और नियंत्रण क्षमता को न समझ पाये है और न पूर्वानुमान ही लगा सकते है। प्रकृति की हर बात में, आकार में, गति मे, यहां तक कि हिंसा मे भी एक सीमा है। अत. प्रकृति की व्यवस्था और नियन्त्रण स्व-मन्तुलक, स्व-समायोजक तथा स्व-शोधक है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के साथ निश्चय ही ऐसा नही हो सकता। वहा 'स्व' जैसा कुछ नही।

अतः यह देखना जरूरी है कि वैज्ञानिक अनुसंधान की दिशा क्या हो? इसे केवल वैज्ञानिकों के ऊपर छोडा गया तो नतीजे कैसे होगे— अनुभवो से जाहिर है। महान दार्शनिक और वैज्ञानिक आइस्टाइन ने स्वय कहा है—लगभग सभी वैज्ञानिक आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह आश्रित है और ऐसे वैज्ञानिकों की संख्या बहुत थोडी है जिन्हे सामाजिक उत्तरदायित्व का थोड़ा-बहुत बोध हो। आइंस्टाइन के इस कथन के बाद वैज्ञानिको के बारे मे कुछ और कहने की जरूरत नही रह जाती।

पर्यावरण की दृष्टि स्व-मन्तुलक, स्व-समायोजक और स्व-शोधक होनी चाहिए। प्रकृति मे तो यह खूबी सहज विद्यमान है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में यह दृष्टि सहज विद्यमान नही हो सकती। तब यह तय करना जरूरी है कि वैज्ञानिक अनुसधानो की दिशा ऐसी होनी चाहिए जो मानव को हिंसा की बनिस्बत अहिंसा की ओर ले जाये और प्रकृति के साथ नाहक संघर्ष की जगह उसके साथ एक सामंजस्य और सहयोग की ओर आकर्षित करे। हमे यह मानना चाहिए कि जागतिक और जैविक तौर पर हम प्रकृति की व्यवस्था के ही अंग हैं और इसके साथ हम जीवन्त और अहिंसक रूप से सहयोग करें। पर्यावरण के प्रति हमारी समझ का अभिप्राय इसी में निहित है।

हमें इस बात को और सरलता से समझने के लिए एक बार फिर गाधी के विचारों को टटोलना चाहिए। 'हिन्द स्वराज' मे गांधी ने रेलों और

अस्पतालो के बारे में कहा है कि रेल से अकाल की स्थितियो को बढावा मिला है। रेलों के कारण जहा महंगाई होती है अनाज वहां खिच जाता है। वहां जाकर अनाज बिक जाता है। इसी प्रकार अस्पतालो को गांधी ने पाप की जड़ कहा है। वे कहते हैं उसकी बदौलत लोग शरीर का जतन कम करते है और अनीति को बढ़ावा मिलता है। गांधी के इन कथनो को उपहास मे उड़ाने की नही इसके मर्म और स्वत्व में पैठकर मूल को टटोलने की जरूरत है।

अब यह सवाल बिना सोचे टाला नही जा सकता कि हमारी जीवन-पद्धति क्या होनी चाहिए। हमे उन बुनियादी सत्यों की ओर लौटना होगा जो भौतिक ससाधनो और वस्तुओं के विकास की दौड़ मे तिरोहित हो गए है। तथाकथित आधुनिक सभ्यता की केंचुल को अब फाड़ना होगा। हमारी अपनी सभ्यता क्या है इसे फिर से समझना और ठीक से समझ कर आत्मसात करना होगा। गांधी की नजर में सभ्यता वह आचरण है जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करने की कूव्वत सीखता है। फर्ज अदा करने के मानी है नीति का पालन करना। गांधी कहते हैं नीति का मतलब मन और इंद्रियों को वश मे रखना है। ऐसा करते हुए ही हम अपने आपको पहचानते हैं और यही सभ्यता है।

लेकिन अपने आपको पहचानने की हमारी दृष्टि पर इस समय एक पट्टी बंधी हुई है। आंखो पर पट्टी बाधे खड़ा यह समाज यद्यपि बहुत अल्प—एक छोटा समाज है, लेकिन अत्यधिक समर्थ समाज है। इस समाज की दशा मदिरा के नशे मे डूबे या अफीमची जैसी है जो इन दुर्व्यसनों से अत्यधिक दु:खी होते हुए भी उस लत को न छोड़ पाने के लिए विवश है। जाहिर है यह संकट जिस वर्ग का है उसमे निर्धन वर्ग नही है। लेकिन यह निर्धन वर्ग उनके शोषण का शिकार है और खुद असहाय-सा खडा है। उसके शोषण का सबसे बड़ा हथियार आज की विकसित प्रौद्योगिकी है जो धनी वर्ग के हाथों मे खेल रही है।

हम जिस जीवन-पद्धति और बुनियादी सत्यो की ओर लौटने की बात कह रहे हैं उसमें प्रमुखतः इस प्रौद्योगिकी के जुए को सिर से उतार फेंकना जरूरी है। क्या हम ऐसा कर सकते है? निश्चय ही बहुत कष्ट साध्य और सघर्ष भरा काम है। पर यह वक्त की अनिवार्यता है। जिन भयकर मुसीबतो मे सम्पूर्ण मानव समाज घिर चुका है उसमें बचाव के लिए करो या मरो जैसा दृढ और साहस भरा कदम ही कोई नतीजे दे सकता है।

श्रम का मानवीयकरण

मानव श्रम और ऊर्जा का समतोल यदि प्रकृति और परिवेशिकी के साथ ठीक तरह से कायम रहता तो पर्यावरण का जो सकट जिस विकट रूप में हम देख रहे हैं वह शायद न होता।

श्रम के मानवीयकरण से सीधा तात्पर्य है श्रम की प्रतिष्ठा। श्रम की महत्ता मानवीय जीवन में क्यो महत्वपूर्ण है और हम जिसे 'श्रम की बचत' मान बैठे हैं वह वास्तव में बचत है अथवा श्रम के प्रति उपेक्षा–यह जानना जरूरी है।

प्रकृति का नियंत्रण सर्वत्र अनूठा है। श्रम के लिए मानव को दो हाथ देकर प्रकृति ने उसकी एक सीमा निर्धारित कर दी है। जो कुछ प्रकृति मे विद्यमान है–दो हाथों के बल पर आदमी अपने लिए यदि उसका उपयोग करता रहे तो प्रकृति की सम्पदा अटूट है। लेकिन आज वैसी बात नही रही। यंत्र ने मानव श्रम की महत्ता को ही कम नही किया उसे विलासिता और एय्याशी की ओर भी धकेल दिया। इसका दुष्प्रभाव हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ा है।

हम सभी जानते है कि आदमी जन्म मे तो अच्छा ही कहलाता है। गुण-दोष परिस्थिति और 'व्यवस्था' के फलस्वरूप बाद में पनपते हैं। श्रम के मानवीयकरण का अर्थ आदमी में विद्यमान सहिष्णुता, करुणा और सवेदना को और अधिक विकसित करना है। इसके विपरीत मानव श्रम का स्थान यदि मशीन या यत्र ले ले तो इन गुणों का धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। परिणामस्वरूप जो सन्तुलन 'मानव श्रम' मे निहित होता है वह बिगड़ता जाता है। इसी असन्तुलन के दुष्फल आज सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं और सम्पूर्ण मानवता बल्कि प्राणी जगत् सतप्त है।

श्रम के मानवीयकरण का दूसरा पहलू सार्वलौकिक सम्पन्नता भी है। यत्र के सहारे से आने वाली सम्पन्नता सार्वलौकिक नही हो सकती। गांधी ने कहा है कि यदि यत्र के माध्यम से हर एक आदमी तक खुशहाली पहुंच सकती हो तो वह उन्हे स्वीकार्य है। लेकिन अनुभव बताता है कि ऐसा कभी हुआ नही। आज सम्पूर्ण विश्व मे बेकारी और खुशहाली, अमीरी और गरीबी का जो

अनुपात है वह चौकाने वाला है। ऐसा अनुमान है कि सन् दो हजार तक दुनिया मे धनी और निर्धन का अनुपात 23 और 77 के लगभग रहेगा। यही स्थिति भारत मे भी रहने वाली है।

भारत की आत्मा को ठीक तरह से समझने वालो मे महात्मा गाधी प्रमुख है। वे वहुत साफ कहते हैं कि यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था मे ठीक कहा जा सकता है जब हमारे पास किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए पर्याप्त आदमी न हों या नपे-तुले हों। यहां तो काम के लिए जितने आदमी चाहिए उनसे कही अधिक बेकार बैठे है।

इसके साथ ही गांधी यह भी स्पष्ट करते हैं कि यंत्र का सहारा मेहनत वचाने के लिए करना मनुष्य की महत्ता को घटाना है। यह भी देखना जरूरी है कि समय और श्रम की बचत के लिए जो यंत्र काम में आ रहे हैं वे किनके लिए हैं। यदि इनका लाभ सबके लिए एक समान हो और किसी वर्ग विशेष के लिए न हो तो भी यह देखना तो जरूरी है ही कि वह करोड़ो बेरोजगारो की गर्दन पर तो सवार नही हो रहा। इस प्रकार के विचारो के बावजूद गांधी इस बात को भी स्पष्ट करते है कि यंत्र मानव श्रम की वचत का कारक वनता है या ऊबाऊ श्रम का विकल्प बनता है—यह भी देखना चाहिए।

भारतीय परिस्थितियो के संदर्भ मे देखें तो मानव श्रम कभी ऊबाऊ नही रहा। घरो में हाथ से आटा पीसने के काम से लेकर किसी भी तरह की मजदूरी के कामों मे श्रम के साथ लोकगीतो, हरजस, भजन और सन्त वाणी की मधुर अनुगूज हमेशा वातावरण को सरस बनाती रही है। आज भी श्रम करती मजदूरिनो के कण्ठों से फूटते मीठे स्वर यत्र-तत्र सुनने को मिल सकते है। श्रम का ऐसा संस्कृतीकरण अन्यत्र कही है या नही, भारत के ग्रामांचल और दूर-दराज के कस्वों मे अभी भी देखा जा सकता है। यंत्रीकरण के धुएँ मे जो क्षेत्र अभी तक पूरी तरह से नही पटे है-वहां भारत की ऐसी सरस श्रम परम्परा अभी भी मौजूद है।

लेकिन यह परम्परा सर्वत्र रही है। इस विश्वव्यापी परम्परा के सदर्भ मे ग्यारहवें पोप का कथन प्रासंगिक होगा। पोप कहते है-कारखाने मे निर्जीव सामग्री तो सुधर कर निकलती है, लेकिन श्रमिक भ्रष्ट और अपमानित होकर।

भारत मे श्रम को मनुष्य की आत्मा के कल्याण का कारक माना गया है, वही शरीर को श्रम के तप में कुन्दन और तेजस्वी होना मानते रहे है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण कहते है-कर्म करना ही प्रभु का स्मरण करना है। कर्म का तात्पर्य श्रम से ही है।

श्रम के मानवीयकरण का तात्पर्य यह भी है कि ऐसा होने से ही भोग-विलास की वस्तुओं की गिरफ्त से हम मुक्त हो सकेंगे। जो कुछ निरर्थक है-यंत्र और प्रौद्योगिकी ने आज उसे जीवन के लिए आवश्यक बना दिया है। श्रम का मानवीयकरण हमें जांच-परख की ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जिससे हम निरर्थक और सार्थक का भेद कर सकते हैं। यही नही, इसके माध्यम से हम वाचिक नही-व्यावहारिक स्तर पर अपना जीवन ढालने में भी समर्थ हो सकते है।

श्रम के मानवीयकरण से 'बाजार की महत्ता' पर भी नियंत्रण लग सकता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने आदमी के सहज-सामाजिक रिश्तो को तिरोहित कर दिया। इसी से उपजी 'बाजार की व्यवस्था' ने हर चीज का मूल्य निर्धारित कर दिया और अर्थशास्त्र के ऐसे सिद्धान्त लागू हो गए जिनमे कोई भी ऐसा काम संभव नही जो सहज साझीदारी या आपसी उत्तरदायित्व की भावनाओं मे गुम्फित हो। ऐसा व्यवहार 'बाजार की व्यवस्था' मे 'अनार्थिक' कहा जा सकता है जिसके लिए आज कही जगह नही है।

हमारे यहां जिस प्रकार के सहज सामाजिक रिश्ते रहे है उसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। प्रख्यात दार्शनिक-विचारक डॉ छगन मोहता कहते हैं—मैं करीब दस-बारह साल का था। मेरी बहिन की शादी थी। हम जहां रहते थे उसके निकट कुम्हारों का मोहल्ला था। वहा से विवाह की वेदी में काम आने वाली मटकियां लानी थी। उसे हम 'बे' बोलते हैं। मैं कुम्हार के पास गया और 'बे' पहुंचाने के लिए कहा। उसने कहा घर जाकर दादी से कह दो कि शाम तक 'बे' घर पहुंच जायेगी। बीकानेर के पास एक गांव है नापासर। यहां के एक बड़े सेठ का एक कर्मचारी भी उसी समय कुम्हार के यहा आया। उसने कुम्हार से कहा कि विवाह की 'बे' मुझे दे दो और मुह मांगी कीमत ले लो। कुम्हार ने कहा 'बे' एक ही थी जो 'यजमान' को दे दी। ज्यादा पैसा देने वाला तू आज आया है। यजमान से मेरा पीढ़ियो का सम्बन्ध है।

डॉ. मोहता इसे हमारी अर्थ व्यवस्था की 'यज्ञ मूलक प्रवृत्ति' या 'यजमानी प्रथा' मानते हैं और कहते है कि हमारी यह ऐसी आर्थिक व्यवस्था थी जो पर्यावरण से सम्बन्ध रखने वाली थी।

यह व्यवस्था श्रम के मानवीयकरण से ही स्थापित हो सकती है।

आज हम यह मान बैठे है कि आर्थिक और भौतिक उन्नति ही वास्तविक विकास है। जबकि सच्चाई तो यह है कि मात्र उत्पादन बढ़ाने से विकास का

सपना अधूरा साबित हो रहा है। विकास का वास्तविक मूल्यांकन तो मानव श्रम को उत्पादन कार्यों से जोड़ने मे है। बड़े पैमाने पर निर्धन और बेरोजगारों को मुख्यधारा से जोडने के लिए यदि हम संकल्पशील है तो उन्हें उत्पादन कार्यों से जोड़ना निहायत जरूरी है। मानव श्रम को बचाने वाली कोई भी प्रौद्योगिकी उत्पादन बढाने के लक्ष्य तो पूरे कर सकती है, पर उन लोगो को जो आज असहाय पड़े है—उत्पादन कार्यों से जोड नही सकती। यदि ऐसा नही होता है तो जैसा ग्यारहवें पोप ने कहा कि श्रमिक भ्रष्ट और अपमानित होता है—मात्र वही तक बात नही रहती—प्रकारान्तर मे एक हिंसक समाज पनपता है और पर्यावरण को हानि पहुचाने जैसे आत्मघात की ओर अग्रसर होने का खतरा खड़ा होता है। हम देख रहे है कि आज यही हो रहा है।

आज जिन स्थितियों मे हम घिर चुके है—ऐसे मनोबल की जरूरत है कि श्रम *को मनुष्य की देह और आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सके। भारत की* अपनी परम्परा तो यही रही है कि आध्यात्मिक शील और भौतिक वैभव मे कभी टकराहट नही हुई। हमारे इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद है। राजा श्रेणिक, तीर्थंकर महावीर, शालीभद्र महाराज, आम्रपाली आदि अनेकों नाम इतिहास में भरे हैं जो भौतिक वैभव में नख-शिख तक सराबोर होते हुए भी अध्यात्म और शील मे सदा शीर्ष पर रहे और 'अनन्त' की प्राप्ति के लिए अध्यात्म को ही सही मार्ग माना—न कि भौतिक संसाधनों को। विरासत मे मिली यह परम्परा आज पुनर्स्थापित होनी अकल्पनीय तो लगती है, पर वक्त की अनिवार्य माग अवश्य है।

आनन्द कुमार स्वामी मनुष्य के कौशल, उसकी शक्ति और मशीन की *निर्भरता के बारे में इस तरह तुलना करते है—मौका दिया जाये तो दस्तकार* स्वयं ही मशीन और औजार के सूक्ष्म भेद की स्पष्ट व्याख्या कर सकता है। कालीन बुनने का करघा एक औजार है जो ताने के धागो को खीच कर रखता हैं ताकि दस्तकार की उंगलिया उनके चारो ओर बाना बुन सके। इसके विपरीत बिजली से चलने वाला करघा एक मशीन है जो मूलत: आदमी के हिस्से के काम को भी खुद करके संस्कृति को नष्ट करता है।

हमारे धर्मो मे भी आवश्यकताओं और लालसाओं का निग्रह मानव चरित्र के निर्माण के लिए जरूरी बताया है। जैन धर्म में अपरिग्रह को पाच महाव्रतों में मे एक माना गया है। यह व्रत तभी हासिल हो सकता है जब श्रम का मानवीयकरण संभव हो।

यदि भौतिकवादी दृष्टिकोण से यह बात हम देखें तो पायेंगे कि आज मानव श्रम की बनिस्बत वस्तुओं के उत्पाद को अधिक महत्व दिया जा रहा है।

मनुष्य की सहज सृजनात्मकता पर यह एक आघात है। इससे आदमी का रूप मानवीय या इन्सानी गुणों से भटक कर दानवी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होने लगता है। दानवी प्रवृत्ति में शोषण, पोषण और दोहन के बीच किसी तरह का अन्तर कर पाना संभव ही नहीं है। पर्यावरण के समतोल, सन्तुलन में ऐसा होने से ही विसंगतियां आती हैं।

श्रम के मानवीयकरण का ज्यों-ज्यों ह्रास होता जा रहा है त्यों-त्यों इसके दुष्परिणाम भी सामने आ रहे है। हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था आज चरमराने लगी है और पूरी तरह से टूटने की अवस्था तक आ पहुँची है। बेरोजगारी दिनोदिन बढ़ रही है। श्रमजीवी वर्ग में भी हताशा और निराशा बढ़ती जा रही है।

तब भी आशा की एक किरण, एक चिनगारी अभी नजर आ रही है। बहुत कुछ खो देने के बाद अभी भी समय हमारे हाथ में है। अभी भी यदि हम अपने गांवों के पुनर्निर्माण की ओर अभिमुख हो जाये और गांधी के बताये मार्ग पर चल सके तो समस्या से निजात पा सकते है। गांधी अभी भी एक अवलम्बन साबित हो सकते है।

गांवों के पुनर्निर्माण के प्रसंग पर गांधी ने गांव से सम्बद्ध हर एक पहलू का विवेचन और समाधान सुझाया है। गांव में शिक्षा से लेकर सफाई, स्वास्थ्य, खेती, ग्रामोद्योग, यातायात, रक्षा और ग्राम स्वराज्य जैसे प्रत्येक पहलू पर गांधी ने बहुत स्पष्ट दृष्टिकोण रखा है। इन पर प्रयोग और अमल मे लाने की एक पहल भर करने की ही जरूरत है।

लेकिन आज तो स्थिति उलटी है। आज गांव उजड़ रहे है और शहरों की आबादी बढ़ रही है। सन् 1981 मे भारत के शहरों की आबादी 16 करोड़ तक पहुंच गई थी। बढ़ती हुई इस आबादी के बोझ को शहर झेल नहीं पा रहे है। यह ठीक है कि शहर तो हमेशा रहे है और सदियों से रहे है। लेकिन तब उनका अपना ही परिवेश और ताना-बाना था। वे अपनी सीमा को समझते थे और लूट की चाही-अनचाही प्रवृत्ति से मुक्त थे। तब गांव और शहर के बीच सम-रसता का रिश्ता था। अंग्रेजी हुकूमत के आने तक यह रिश्ता बदस्तूर था, अटूट था।

धीरे-धीरे यह परिवेश टूटने लगा। आजादी के बाद भी यह टूटन नहीं थमी। गाधी की सीख और चेतावनी का असर सत्ता के गलियारों में सैद्धान्तिक चर्चाओं तक ही सिकुड़ा रहा।

यह हालत क्यों हुई ? इसे गौर से देखें।

मिट्टी और पानी जीवन के सबसे बड़े आधार हैं। खाद्य और कृषि संगठन की ओर से हुआ एक अध्ययन यह बताता है कि भारत के पास प्राकृतिक संपदा का जो विपुल भण्डार है, कम उपज वाले जो खाद्यान्न उत्पादन हैं, हाथ के औजारों का जो उपयोग है, रासायनिक खादों व कीटनाशकों की जैसी नगण्य लोकप्रियता है, मानव शक्ति की जो बहुलता है—आदि कारणों से जमीन और मिट्टी की जीवनाधार क्षमता इतनी विपुल रही है कि वह तीन गुना आबादी के भरण-पोषण का भार उठाने का सामर्थ्य रखती है। लेकिन आज यह स्थिति तेजी से बदल रही है। खेती जब तक जीवनाधार रहती तभी तक ऐसा रह सकता था। आज तो खेती व्यवसाय हो गयी है। इसी कारण परिस्थितियों का बदलाव भी दृष्टिगोचर होने लगा है।

यह अध्ययन बताता है कि देश को एक शताब्दी तक अपने लोगों का पेट भरने के बारे में निश्चिन्त हो जाना चाहिए। लेकिन यह निश्चिन्तता तभी आ सकती है जब हम अपने पर्यावरण की अनदेखी नहीं करें। कृषि की जो नई तकनीक है उसमें मिट्टी और पानी का समुचित संरक्षण यदि नहीं हो सकता तो वैसी तकनीक हमारे लिए बेहतर और उचित कैसे कही जा सकती है? बेहतर तकनीक के बारे में जब हम सोचते हैं तो उसका बुनियादी आधार श्रम के मानवीयकरण में ही सन्निहित है।

हमारी समाज-व्यवस्था का जो ढांचा अब तक रहा है—उसे भी देखा जाना चाहिए। काम धन्धों और जातियों के बीच सदियों से सम्बन्ध रहे हैं। प्रकृति में जो कुछ उपलब्ध है उसके उपयोग का भी जातीय आधार पर सहज स्व-निर्धारण देखने को मिलता है। यह भी देखने को मिलता है कि प्रकृति की उस सम्पदा का संरक्षण भी स्वतः उसी वर्ग का उत्तरदायित्व माना जाता रहा है।

आज भी ऐसे इलाके हैं जहां वस्तु-विनियम के आधार पर काम होता है। ये इलाके अपनी जरूरत की चीजें खुद पैदा करते हैं और आत्मनिर्भर हैं।

पीढ़ियों से चले आ रहे इस तरह के सन्तुलन और सामाजिक-आर्थिक प्रणाली की बर्बादी तथाकथित विकास के नाम पर होती चली गई। इसी से परवशता भी बढ़ती गई और सामाजिक तनाव भी इसी कारण बढ़ने लगे। विपुल सम्पदा वाले भारत को अभावों वाला देश कहा जाने लगा।

हम कुछ उदाहरण देखे—

शिवालिक की तराई में उगने वाली भाभर घास से रस्सी बुनी जाती रही हैं। इसी रस्सी से चारपाइयां बनाई जाती हैं। 'बान रस्सी' बनाने वाले पीढ़ियो से भाभर घास काट कर लाते रहे है। सहारनपुर के लगभग 40,000 परिवार इस धन्धे मे लगे रहे हैं। लेकिन सन् 1951 के बाद इन जंगलो का ठेका दे दिया गया। घास इन बुनकरो के हाथो से छिन गई। और तो और यही भाभर घास कागज के कारखानो को सस्ते मूल्य पर और पीढियो से रस्सी बनाने वाले दस्तकारो को महंगे मूल्य पर मिलने लगी।

यही हालत देश के कुम्हारों की है। कच्ची मिट्टी के बर्तन बना कर अपना पेट भरने वाले 15 लाख कुम्हार अब बेहाल हैं। आज प्लास्टिक, कांच और अल्मूनियम ने इन्हे चौपट कर दिया है। खूबसूरती और सहूलियत के नाम पर इन बर्तनो का उपयोग, खाना पकाने से लेकर जल सग्रहण तक हर घर मे होने लगा है। लेकिन किसी ने यह नही सोचा कि मिट्टी के बर्तनो की तुलना मे ये बर्तन स्वास्थ्य के लिए कितने हानिकर है। कुम्हारों की बेहाली तो दर-किनार है।

इसी तरह भारत की कपड़ा नीति है जो नगे लोगो को तन ढकने लायक कपडा तो मुहैय्या नही करा सकी, पर हथकरघा पर कुठाराघात तो कर ही दिया।

भारत लोहा और इस्पात बनाने मे सदियों से समृद्ध रहा है। इस्पात बनाने की आधुनिक तकनीक भले कितनी ही बेहतर हो, पर भारत के गाडिया लोहारो की अपनी तकनीक से बने इस्पात की मांग दुनिया भर में रही है। प्राचीन अभिलेख और पुरालेखविदो ने इस पर विशद प्रकाश डाला है, पर यह हुनर तो चौपट ही हुआ है। अब तो वह खात्मे की दहलीज पर है।

भारत के परम्परागत इस्पात उद्योग पर ब्रिटिश हुकूमत ने सन् 1800 के बाद अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हमला किया।

मानवीय श्रम से प्रस्फुटित ऐसे हुनर ब्रितानियों की आँख की किरकिरी थे। वे जानते थे कि इनके रहते भारतीय जन-मानस को परवश नही बनाया जा सकता। दुर्भाग्य से आजादी के बाद भी इस नजरिये मे बदलाव नही आया।

इस प्रकार हाथ के कामों के छिनते चले जाने, खेती के व्यावसायिक होते जाने, [illegible]

श्रम का गला घुटता चला गया।

दरअसल एक बुनियादी भूल हमारी समझ और चेतना में बुरी तरह से पैठ गई। जो प्राकृतिक ससाधन और सम्पदा धरोहर के रूप में हमें प्राप्त हुई है, हमने उसी का भक्षण करना शुरू कर दिया। यह वैसी ही बात है जैसे एक व्यापारी अपनी मूल पूंजी को खाना शुरू कर दे और अन्ततः वह कंगाल या दिवालिया हो जाये। यदि श्रम के मानवीयकरण की पुनर्स्थापना हो जाये और यंत्रीकरण का अन्धा जोर थम जाये तो मूल पूंजी को खाते जाने की राक्षसी भूख स्वतः रुक सकती है।

हमारे पर्यावरण और परिवेशिकी पर यह एक बड़ा खतरा है और इससे मुक्ति के लिए श्रम के मानवीयकरण का दृढ़ संकल्प जरूरी है। स्वावलम्बन के लिए भी यह जरूरी है क्योंकि समाधान का आधार हर स्तर पर यही हो सकता है।

औद्योगिक संस्कृति

आर्थिक विकास या औद्योगिक सम्वृद्धि का तात्पर्य यदि वस्तुओं का अम्बार खड़ा कर देने में ही निहित है तो यह मानवीय ऊर्जा और पर्यावरण की संस्कृति से कोई मेल नही रखता। इसके विपरीत लोगों को पहले से अधिक काम मिलने की यदि अनुकूल परिस्थितियां विकसित होती है तो उसमे समग्र विकास की सम्भावनाएं तलाशी जा सकती है। जब अधिकतम लोगों को काम मिलते रहने की परिस्थितयां बन जाती है तो वहा विकास उत्पादन आधारित न होकर श्रमाधारित हो जाता है। इस हालत मे शोषण और असन्तुलन की सम्भावनाएं भी कम हो जाती है। यंत्र की जगह मानवश्रम और प्राकृतिक सम्पदा पर अवलम्बन बढ़ जाने से यथोचित सन्तुलन भी बना रह सकता है।

आज जो औद्योगिक संस्कृति हमारे चारों ओर घेरा डाले खड़ी है वह बहुत अधिक प्राचीन नही है। इस धरती पर मनुष्य का अस्तित्व तो कोई पन्द्रह लाख वर्ष से रहा है लेकिन औद्योगिक विकास का युग डेढ़ पौने दो सौ साल से पुराना नही है। अपनी आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन और निर्माण में मनुष्य की दक्षता इससे पूर्व भी रही है, पर उसमें पूंजी का निवेश और उत्पादन मुख्य न रहकर मानवश्रम और उसकी आवश्यकता की पूर्ति प्रमुख रही है। आज उत्पादन की होड़ के साथ बाजार की प्रतिस्पर्धा भी तीव्र होती जा रही है। इसीलिए आयात, निर्यात, बचत, लागत के मिजान बैठाना आवश्यक हो गया है। इन डेढ़ सौ सालों मे जो औद्योगिक विकास हुआ है उसने जिस प्रकार की औद्योगिक संस्कृति को जन्म दिया और विकसित हुई उसने मनुष्य की तुलना में वस्तुओं के प्रति रुझान को बढाया है। वस्तुओं के प्रति निरन्तर बढ़ती जा रही अभिरुचियों में मनुष्य की सवेदनशीलता, उसकी तार्किकता और किसी हद तक सम्प्रेषणीयता भी समाप्त हुई है। अपने उत्पादों की खपत के लिए, अधिक से अधिक बाजारों की तलाश के लिए विज्ञापनों और प्रचार का जो आतंक खड़ा किया जाता है उसके कारण लोगों की दिलचस्पी वस्तुओं में ही अटक कर रह जाती है। यह सोचने का अवकाश ही नहीं बच पाता कि जिस वस्तु का इस्तेमाल वे अपने दैनंदिन जीवन में कर

रहे हैं वह पर्यावरण और परिवेशिकी के किस तरह के विनाश और भारी चुकारे के बाद उनके हाथ लगी है।

इस औद्योगिक सस्कृति ने भौतिक वस्तुओं को मनुष्य जीवन में प्रमुख स्थान दे दिया है। अधिकाधिक उत्पादन के परिणामस्वरूप मनुष्य की मौलिक सृजनात्मक क्षमता पर निरन्तर आघात होता चला आ रहा है। अधिक उत्पादन का तर्क मानव जीवन और सामाजिक विकास का तर्क तो हो नही सकता, क्योंकि जिन संहारक शक्तियों के माध्यम से यह हासिल किया जा रहा है उससे अन्तत: अनेक बुराइया और विषमताए ही पैदा होती है। इस औद्योगिक सस्कृति ने गरीबो की हालत को अधिक दुरूह और विकट ही बनाया है।

औद्योगिक विकास के वर्तमान ढाँचे को बनाए रखने के लिए जो कीमत हमे चुकानी पड़ रही है यदि उस पर ठीक तरह से विचार करे तो इस नतीजे पर पहुचेंगे कि इस औद्योगिक विकास का ताना-बाना कितना महंगा है।

औद्योगिक रूप से उन्नत देशों मे से एक है अमेरिका। प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से भी दुनिया के देशो की तुलना में अमेरिका अधिक सौभाग्यशाली है। तब भी अमेरिका के औद्योगिक ढांचे को बनाये रखने के लिए दुनिया के चालीस प्रतिशत संसाधनो का इस्तेमाल हो जाता है। यह भी कितनी आबादी के लिए—मात्र छ: प्रतिशत आबादी के लिए।

दुनिया के औद्योगिक ढांचे को बनाये रखने के लिए कच्चे माल के रूप मे जो प्राकृतिक ससाधन उपलब्ध हैं वे कितने समय तक पर्याप्त होगे इसका आकलन कितनी ही 'अध्ययन रिपोर्ट्स' मे देखने को मिल सकता है। इन अध्ययनों मे एक बात सामान्य रूप से एक सी ही देखने को मिलती है कि सभी प्राकृतिक ससाधन सीमित है और एक दिन वे चुकने वाले हैं। लेकिन यह सृष्टि कब तक मौजूद रहेगी—इस पर एक भी 'अध्ययन रिपोर्ट' में कोई टिप्पणी नही मिलती।

औद्योगिक विकास का यह स्वरूप एक तरफ अपने ही भारी बोझ से चरमरा रहा है और दूसरी तरफ उससे उत्पन्न होने वाले प्रदूषण के खतरों से बचने का कोई उपाय नही सूझ रहा है। कोई भी विकास यदि प्रदूषण युक्त है तो उसके दुष्चक्र से मुक्त होने के लिए की जाने वाली व्यवस्था आसान नही हो सकती। उदाहरण के तौर पर हम परमाणु ऊर्जा ही ले। औद्योगिक विकास में ऊर्जा का योगदान सर्वाधिक और प्रमुख है। कोयला और तेल के निरन्तर समाप्त हो रहे भण्डारों के कारण वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत के तौर पर परमाणु

ऊर्जा हमारी प्रौद्योगिकी का एक नायाब तोहफा माना गया, लेकिन बहुत शीघ्र ही इसकी आंच ने हमारे पर्यावरण को बेरहमी से अपनी चपेट में ले लिया और अब यह समझ में आने लगा कि जिसे प्रौद्योगिकी की सर्वाधिक चमत्कारी और बेशकीमती उपलब्धि माना गया वह कितनी विनाशकारी सिद्ध हो रही है।

रूस की चेरनोबिल दुर्घटना के बाद परमाणु ऊर्जा के प्रश्न पर समूची दुनिया में चिन्ता और विरोध बढ़ा है। लेकिन इस हिंसक प्रौद्योगिकी के बारे में सही-सही जानकारी देने से कतराते रहने की प्रवृत्ति शुरू से ही रही है। सन् 1957 में विडस्केल रियेक्टर की दुर्घटना से लेकर 26 अप्रैल, 1986 को हुई चेरनोबिल दुर्घटना तक की कहानी एक ही हकीकत बयान करती है कि वास्तविक बात आम लोगों से छुपाई जाती है और सही जानकारी समय पर जानबूझ कर नही दी जाती।

एक मोटे अनुमान के आधार पर 'परमाणु रियेक्टरों' में लगभग तीन सौ दुर्घटनाएं अब तक हो चुकी हैं।

इस औद्योगिक संस्कृति ने किसे क्या दिया है—यदि यह लेखा-जोखा किया जाये तो पायेंगे कि एक सीमित वर्ग ने भले ही इससे बहुत कुछ पाया हो, पर बहुत बड़े वर्ग ने काफी कुछ खोया है। 3 दिसम्बर, 1984 को यूनियन कारबाइड ने भोपाल में जो घमासान किया उसे दुनिया कभी भूल नही सकेगी। भोपाल की उस काली रात ने एक साथ ढाई हजार प्राणो को काल का ग्रास बना डाला। चालीस वर्ग किलोमीटर तक फैली जहरीली गैस के कारण हजारों लोग अस्पतालो की दहलीज तक पहुचा दिये गए। उस 'डायन' रात की तब भी भूख शान्त नही हुई। 10 जुलाई, 1976 को इटली के नगर सैवेसा मे हुई दुर्घटना ने अनेक बच्चो की त्वचा पर ऐसा जहरीला प्रभाव छोड़ा कि उनके शरीर पर फोड़े ही फोड़े उठ आये। हजारों लोगों को सुरक्षित स्थानों पर पुनर्वासित करना पड़ा। इस दुर्घटना में एक रासायनिक संयंत्र मे विस्फोट हो जाने से 'डाईआक्साइड' नाम का जहर 18 वर्ग किलो मीटर क्षेत्र में फैल गया था। इसी तरह 11 जुलाई, 1978 को स्पेन, 25 जनवरी, 1984 को ब्राजील और 19 नवम्बर, 1984 को मैक्सिको सिटी मे हुई दुर्घटनाओं ने हजारों लोगों को मौत का मुंह दिखा दिया।

जिस तेजी के साथ औद्योगिक विकास दुनिया में छाया और उसके दुष्परिणाम ज्यों-ज्यों सामने आने लगे— इसका प्रतिरोध भी शुरू होने लगा।

एक सर्वेक्षण के अनुसार परमाणु ऊर्जा की रेडियो-धर्मिता के कारण विनाश के खतरों से लोग पहले से अधिक सचेत हुए है। इंग्लैण्ड मे परमाणु बिजली

का विरोध पहले जहां 65 प्रतिशत था वहां चेरनोबिल दुर्घटना के बाद बढ़कर 83 प्रतिशत हो गया। अमेरिका में 67 प्रतिशत से बढ़कर 78 प्रतिशत, युगोस्लाविया मे 40 प्रतिशत से बढ़कर 74 प्रतिशत, कनाडा में 60 प्रतिशत से बढ़कर 70 प्रतिशत, प. जर्मनी में 40 प्रतिशत से बढ़कर 69 प्रतिशत और फिनलैण्ड में 33 प्रतिशत से 64 प्रतिशत हो गया है।

फिनलैण्ड की चार हज़ार महिलाओ ने इसके विरोध का हतप्रभ कर देने वाला, पर प्रभावी तरीका निकाला। इन महिलाओं ने शपथ ली कि जब तक सरकार परमाणु बिजली बनाने की नीति नही बदलती तब तक वे गर्भधारण नहीं करेंगी। इन महिलाओ का यह निश्चय किसी भी सरकार के लिए न केवल चुनौतीपूर्ण है, अपितु गहरा चिन्तनीय सवाल भी है। यह धरती रेडियो-धर्मिता से मुक्त नही है और इसीलिए ये महिलाएं भावी सन्तति का जीवन खतरे मे नही डालना चाहती।

फिनलैण्ड की इन चार हजार महिलाओ के लिए लुई मैकनीस (इंगलैंड के एक कवि) की कविता 'अजन्मे शिशु की प्रार्थना' संभवतः प्रेरणास्पद रही हो।

औद्योगिक संस्कृति के विकसित हो रहे घटाटोप मे लुई मैकनीस की 'अजन्मे शिशु की प्रार्थना' उसकी विकृतियो को इस तरह उजागर करती है—

अभी नही मैं ले पाया हूं जन्म !
सुनो, ओ सुनो शर्तें मेरी,
जिनके बिना न मैं इस धरती पर आऊंगा

खून चूसने वाले ये चमगादड, चूहे,
कब्र खोदने वाली नरभक्षी छायाएं

कत्तई मेरे पास न आएं।
अभी नही मैं ले पाया हूँ जन्म !

मुझको दो आश्वासन, दो आश्वासन मुझको,
जिसके बिना न मैं इस धरती पर आऊंगा !

मुझ को भय है
तथाकथित यह मानव नामक जाति
ऊंची दीवारो के अन्दर मुझे करेगी कैद,
चालाकी से भरे असत्यों से
मुझको विचलित कर देगी,

सोने की मदिरा से बदहवास कर देगी,
काले कठिन शिकंजों में मुझको कस देगी,
खून सने मैदानों में
कर देगी मेरी सैनिक हत्या !

अभी नहीं मैं ले पाया हूँ जन्म !
मेरे लिए प्रबन्ध करो ताजे पानी का,
जिसमें घुल कर मेरी आत्मा स्वच्छ बनेगी
हरी घास, जिस पर क्षण भर मैं सपने देखूं।

नये जवान वृक्ष जिनसे मैं बात कर सकूं,
खुला हुआ आकाश, छांह् में जिसकी,
पंछी गीत सुनायें
और चमकती एक किरण
जो मुझे तमस से
सदा ज्योति की ओर ले चले !

अभी नहीं मैं ले पाया हूँ जन्म !
किन्तु अभी से मुझे क्षमा दो
उन पापों के लिए जिन्हें मेरे माध्यम से
कायर दुनिया किया करेगी !
वे विचार, वह वाणी जो मेरे माध्यम से
दुनिया सोचेगी, अथवा दुनिया बोलेगी—

मुझे क्षमा दो
उस जीवन के लिए जो कि
अपनी हत्या करने के बाद
मुझे जीना ही होगा।

अभी नहीं मैं ले पाया हूँ जन्म !
किन्तु मुझे अभ्यास करा दो
उस अभिनय का, जो मुझको करना ही होगा।
उस धीरज का, जो उस समय शक्ति दे मुझको—

जब बूढ़े मुझ पर अनुचित उपदेश उंडेलें,
जब सत्ताएं मेरी गति में बाधा डालें,
जब ऊंचे पहाड़ मेरी किस्मत पर टूटें,

जब उत्ताल तरंगें मुझको आमंत्रण दें,
जब मृगतृष्णाएं मुझको दर-दर भटकाएं,
जब मेरी ही सन्तानें
चिढ़ कर मुझ पर लानत भेजें !

अभी नही मैं ले पाया हूँ जन्म !
सुनो पर !
जो पशु है या जो अपने को खुदा समझता है,
ऐसे को मेरे पास फटकने मत दो

अभी नही मैं ले पाया हूँ जन्म !
लेकिन मुझ मे भर दो इतनी ताकत जिससे
मैं विद्रोह कर सकू उससे—
जो मेरी मानवता को काले पत्थर मे बदल रहा हो,
जो मुझको मशीन का पुर्जा बना रहा हो,
जो मेरा व्यक्तित्व कुचलने को आतुर हो,
जो मेरी पूर्णता धूल मे मिला रहा हो,
जो मुझको मुर्दा पत्ते की तरह
वहां से यहा, यहा से वहा उड़ा ले जाना चाहे !

मुझ को पूरा मौका दो
अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकू,
मैं अपना हक अदा कर सकू
सडी लाश-सा भूखे गिद्धो से खाये जाने के पहले !
वरना मेरा गला दबा दो
धरती पर लाने से पहले !

यह कविता पर्यावरण और परिवेशिकी का एक प्रभावी दस्तावेज कही जा सकती है।

उद्योगो का यह तीव्र विकास सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के समाधान में भी सहायक नही हो सका है। निर्धन देश हो या धनी देश—बेरोजगारी और गरीबी का अनुपात औद्योगिक विकास के अनुपात में घटने की जगह बराबर बढता चला गया। जाहिर है पूजी और आर्थिक विकास कुछ हाथो मे सिकुड-सिमट कर सीमित हो गया।

दरअसल आधुनिक औद्योगिक विकास ने आदमी के हाथो से होने वाले काम की जगह मशीन को हर जगह स्थापित कर डाला। जिसका परिणाम यह

हुआ कि मानवश्रम पर आधारित व्यवस्था क्षीण होती चली गई। इससे स्वावलम्बन की परिस्थितियां ही समाप्त होने लगी। जिसे करने में मनुष्य को सर्वाधिक आनन्द की अनुभूति हो सकती है और जिसमें उसकी सृजनशीलता, कल्पनाशक्ति और उपयोगिता झलकती है—वह दो हाथ और मस्तिष्क का उपयोग ही है। यदि इनके उपयोग से मनुष्य को वंचित कर दिया जाये तो उसे परोक्ष रूप से असहाय बना डालने का षड्यन्त्र माना जाना चाहिए। जिस काम में आदमी को अपने सृजन का बोध ही नहीं हो वह काम चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, दूरगामी दृष्टि से उसके लिए सुखकर नहीं हो सकता।

जो औद्योगिक विकास उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में फलता-फूलता रहा वह साधारण आदमी की पहुँच से बहुत ही दूर रहा है। यही कारण है कि आम निर्धन, बेरोजगार और हुनरमन्द, जरूरतमन्द व्यक्ति उससे कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आधुनिक औद्योगिक प्रबन्ध में ऊर्जा, यंत्र और पूंजी का समावेश जिस अनुपात से होता है वह कभी भी आम आदमी के पास पूरी मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सकता। स्वाभाविक है कि ऐसी हालत में वह उस ओर देख भी नहीं सकता।

ठीक इसके विपरीत गांधी ने जिस ग्रामौद्योगिकी पर जोर दिया वह न जटिल है और न दुरूह। उसमें न भारी पूंजी निवेश है और न बेहद ऊर्जा की आवश्यकता। इसके माध्यम से आम जरूरत की चीजों का उत्पादन स्थानीय खपत के आधार पर स्थानीय संसाधनों से सहज ही संभव हो सकता है। इसके लिए जटिल आयोजनाओं की भी आवश्यकता नहीं। औद्योगिक विकास के लिए जिस आधारभूत ढांचे की जरूरत अनिवार्य होती है वह 'इन्फ्रा-स्ट्रक्चर' भी सर्वत्र प्राप्य है। उत्पादन के केन्द्रीकरण से पैदा होने वाली विसंगतियां और विषमताएं भी गांधी की उद्योग नीति में नदारद है क्योंकि उसमें परावलम्बन किंचित भी नहीं रहता।

इस तरह की अवधारणा के लिए शिक्षा सर्वाधिक सहायक हो सकती है। अर्थशास्त्रीय शब्दावली में शिक्षा भी 'संसाधन' ही कहलाती है। लेकिन जो शिक्षा आज दी जा रही है क्या गांधी की 'उद्योग नीति' में सहायक हो सकती है? क्योंकि जिस विज्ञान और प्रौद्योगिकी से हमारे पर्यावरण और परिवेशिकी को आघात पहुंच रहा है वह इसी शिक्षा की ही तो देन है।

शिक्षा का प्रमुख काम 'जीवन मूल्यों' के प्रति व्यक्ति की आख को सजग करना होता है। शिक्षा जीवन में तभी सहायक हो सकती है जब वह मनुष्य

के विवेक को जागृत करे। आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी में अपरिमित शक्ति है, लेकिन उस शक्ति ने समाज में विषमता और असन्तुलन ही बढ़ाया है। मतलब यह कि जिन हाथों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की चाबी है उनके पास उसके इस्तेमाल का वैसा विवेक नहीं है। यदि विवेक और चिन्तन जागृत हो जाये तो जीवन-मूल्यों की पहचान और परख में कोई कोताही नहीं हो सकती।

शिक्षा, ज्ञान, प्रौद्योगिकी और उत्पादन का एक और पहलू भी है। वस्तुओं का उत्पादन या प्रौद्योगिकी का जैसे के तैसे रूप में उपयोग आदमी को परजीवी बनाता है। जबकि शिक्षा से जन्मा विवेक व्यक्ति को स्वतंत्र-चेता इन्सान बनाता है। हम किसी व्यक्ति को कुछ भी नहीं दें, पर उसमें ज्ञान और विवेक भर दें तो उसे आत्म-निर्भरता का सबसे सबल संसाधन उपलब्ध कराया माना जा सकता है।

ज्ञान और विवेक जागृत करने वाली समर्थ शिक्षा यदि दी जाये तो आज विपुल विकास के बावजूद सिर उठा रही समस्याओं का स्वतः शमन हो सकता है। आज जो विकास हमारे चारो ओर छाया हुआ है उसमें प्रलोभन और कभी न पूरी हो सकने वाली लालसाएं कुंडली मार कर बैठी हैं। लेकिन स्व-विवेक और ज्ञान के जरिये इन पर नियंत्रण पाया जा सकता है। कठिन परिश्रम और सयम से उपभोग की बेजा वृत्ति सहज ही नियंत्रित हो सकती है। इस तरह की वृत्ति से जो परिणाम निकलेंगे उसमें समता-मूलक समाज व्यवस्था का ढांचा आसानी से निर्मित हो सकेगा। भारतीय परम्परा और संस्कृति की पीठ पर जब हम समता की बात करते है तो उसमें भौतिक संसाधन ही नहीं सम्पूर्ण प्राकृतिक सम्पदा के उपभोग और दोहन मे भी समता का समावेश मानकर चलते है।

जब ऐसी स्थितियां बन जाती हैं तो प्रकृति के साथ अतिचार करने और मनुष्य को विकृत बनाने वाली व्यवस्था भी समाप्त हो सकती है। यह मिथ्या धारणा है कि भौतिक सम्पदा–जिसमे वस्तुओ से लेकर धन तक शामिल है–की बहुलता से मनुष्य सुखी हो सकता है या सभी समस्याओं का शमन उसमें निहित है। पैसा सर्व शक्तिमान मान लिया गया है, लेकिन वास्तविक अर्थों में तो वह विनिमय का साधन भर है। सर्व शक्तिमान का दर्जा पैसे को इसलिए मिल गया है कि भौतिकवाद को चुनौती देने की सामर्थ्य मुट्ठी भर लोगों में बची है। लेकिन हमे यह समझना चाहिए कि परिवर्तन की दिशा भी सदा मुट्ठी भर लोग ही बताते रहे है।

इन मुट्ठी भर लोगों के लिए भौतिक उपलब्धियां कभी भी मुख्य नही रहीं, उनका स्थान तो गौण ही रहा है। हर युग में न्याय, विवेक, धैर्य और संयम से चलने वाले लोग मुट्ठी भर हुए हैं। समाज में वे ही पूजनीय माने गए हैं। इसीलिए हमारी परम्परा मे राजा से फकीर को अधिक उच्चस्थ माना गया है। संत कबीर तो कहते भी है—

'मन लागो मेरो यार फकीरी में,
जो सुख पावे राम भजन में,
सो सुख नाहि अमीरी में'

भारत की यह परम्परा और सभ्यता आज बेशक जीर्णावस्था में हो, पर अभी भी जीवित है और 'डूबते को तिनके के सहारे' की माफिक प्रेरणा भी फूंकती रही है। यही परम्परा फिर से पुनर्स्थापित की जानी जरूरी है और सम्पूर्ण विश्व में भारत ही ऐसा राष्ट्र है जहा यह पहल हो सकती है।

जो औद्योगिक संस्कृति आज हमारे सामने है, बहुत कुछ वह ब्रिटिश हुकूमत की देन है। ब्रितानी हुक्मरानो का अन्तिम उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण और भारतीय जन को पूरी तरह से परावलम्बी बनाना था। लम्बे समय तक हुकूमत के लिए भी ऐसा करना जरूरी था। लेकिन यह कैसे संभव हो सकता था। इसे भी उन्होने बहुत बारीकी से समझा। उस समय में भारत के गांव सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तौर पर पूर्ण स्वावलम्बी और एक व्यवस्थित संगठनात्मक ढाचे मे आवद्ध थे। इसे तोड़ना ब्रितानियो के लिए जरूरी था। उन्होने इसे तोड़ा। इसीलिए वे शासन कर सके। आज हमारा देश बेशक स्वतंत्र है, पर गांव की अपनी वह गरिमा पुनः नही लौट पायी है। जो नश्तर गांव की आत्मा को घायल कर चुका, उसे पूरी तरह बेअसर नही कर पाये है। गुलामी की बेड़ियो ने गांवो के पावों मे जो घाव कर दिये, वे भरे नही जा सके हैं।

लेकिन यह सब कौन करने वाला है? यदि हम यह अपेक्षा करें कि इसके लिए कोई व्यवस्था या शासन केन्द्रीय स्तर पर किसी प्रकार का कदम उठायेगा तभी कुछ हो सकता है तो यह कुछ नही करने का निरा बहाना भर होगा। गांवों की अपनी क्षमता, स्वावलम्बन और अपना व्यवस्थित, संगठित ढांचा यदि कोई पुनर्स्थापित कर सकता है तो वह जन अभिक्रम के बल पर ही हो सकता है। दूसरो की दी हुई बैसाखियों को छोड़ कर अपने पावो की मजबूती को ठीक प्रकार से तौलने का साहस ऊपर से या बाहर से नही आ सकता। उसे स्वयं ही जागृत करना होगा। वह तो अन्दर से आयेगा। अन्दर की ज्वाला को जगाना होगा।

इसके लिए तात्कालिक तौर पर कुछ कठोर निर्णय भी लेने पड सकते हैं। मसलन यह कहना होगा कि गांव को जाने वाली सड़क को छोड कर गांव जन अपनी ही बनायी पगडण्डी पर ही चलेंगे। गांव की सम्पदा पर गांव जनों का अधिकार होगा। मिट्टी, जल, भूमि, वृक्ष, जंगल पर गांव का आधिपत्य ही रहता आया है। व्यवस्था के नाम पर नाहक बाहरी आधिपत्य अस्वीकार्य होगा। गाव के लोग अपना जल प्रबन्ध, अपनी शिक्षा की जरूरत का खुद प्रबन्ध करेंगे। इस प्रकार स्वनिर्भरता कायम होगी और पराश्रितता समाप्त होगी। गांव का शिल्प और गांव का उद्यम गांव की जरूरतें पूरी करने में सहायक होगा। गांव की सडक को छोड अपनी पगडण्डी पर चलने का संकल्प जब दृढ हो जायेगा तो गांव की सम्पदा निर्ममता से शहर की भेंट नही चढेगी। तब शहर और गांव एक दूसरे की आपूर्ति के आधार बन सकेंगे, शोषण के नही। जो एक समय हमेशा बने रहे है।

गांवों का ऐसा परम्परागत प्रबन्धन जब पुनर्स्थापित हो जायेगा तो पिछले डेढ-पौने दो सौ सालों से पनपी औद्योगिक संस्कृति की चूलें स्वतः ही हिलने लगेगी। क्योकि यह तो हम जान ही चुके है कि उद्योग और प्रौद्योगिकी का तथाकथित विकास खुद ही के बोझ से इतना दब चुका है कि अब उसकी सांस फूलने लगी है। कथित विकसित देशो मे इस हकीकत से जहां लोग परेशान होने लगे है, वही कथित विकासशील देश और अविकसित देश भी उसके बोझ को पूरी तरह भांपने लगे है।

इसीलिए पर्यावरण और परिवेशिकी का सवाल जहां विकसित कहे जाने वाले देशों के लिए गहन चिन्ता का विषय बना हुआ है वहां निर्धन देशों में भी लोग इस ओर सचेत हो उठे हैं।

भारत जैसे देश मे यह सवाल जिस गम्भीरता से लिया जा रहा है वह वैश्विक स्तर के इस सोच को ही इंगित करता है।

প্রাকৃতিক সমস্যা



प्राकृतिक सम्पदा

गांधी का यह कथन कि 'यह धरती सबकी जरूरत पूरी कर सकती है, पर किसी एक का भी लालच पूरा नहीं कर सकती' न केवल तर्क के आधार पर, अपितु हालात को ध्यान में रख कर सोचें तो भी सर्वथा सही प्रतीत होता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी आज विकास के प्रखर सेतु मान लिए गए है, पर उनकी अधोगति से अब दुनिया परिचित होने लगी है। बहुत से कारणो में से इसका एक मुख्य कारण प्रौद्योगिकी की यह जटिलता भी रही है जो आम और निर्धन व्यक्ति की पहुंच से बाहर की चीज है। आम आदमी के लिए रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति बुनियादी बात है। ये आवश्यकताएं सरलता से कैसे पूरी हो सकती है यही देखना व्यवस्था का प्राथमिक दायित्व बनता है। आम आदमी के लिए भोजन, वस्त्र, आवास और जिन परिस्थितियो मे वह जीता है उसमें निर्मित उसकी संस्कृति यदि बखूबी उपलब्ध रहे तो एक सन्तुलित और समतापरक समाज की परिकल्पना साकार हो सकती है।

इसके लिए कोई भी बाहरी 'मॉडल' उपयुक्त नही हो सकता। क्योकि वैसा 'मॉडल' निर्धन और आम आदमी की क्षमता से बाहर का होगा। वैसा 'मॉडल' बना देने में जो पूंजी और बाहरी संसाधनो की जरूरत पडेगी वे सहज रूप से बिना किसी प्रकार के विनाश के प्राप्त नही किये जा सकते। ठीक इसके विपरीत स्थानीय सामग्री और स्थानीय उपभोग को आधार मानकर यदि नीतिगत निर्णय ले लिए जाय और उसके क्रियान्वयन मे स्थानीय सहमति को प्रमुखता दी जाय तो एक नये प्रकार के समाज की संरचना की जा सकती है।

ऐसी संरचना मे हमारी प्राकृतिक सम्पदाएं अत्यधिक सहायक हो सकती है। प्रकृति मे जो कुछ विद्यमान है उसका मूल्य अपरिमित है। उसके दोहन और उपभोग और उसकी पुनर्रचना, पुनर्भरण मे नियंत्रण स्थापित करने की सामर्थ्य स्वयं प्रकृति के ही पास है। मनुष्य अपने विवेक से प्रकृति के इस अनूठे सामर्थ्य के साथ सुसगति कायम करने के लिए यदि सकल्पित हो जाय तो शुरू मे उल्लिखित गांधी के कथन का गूढ़ार्थ हर व्यक्ति समझ सकता है।

मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है। उसे प्रकृति ने दो हाथ देकर उपभोग की सीमा निर्धारित कर दी है। मनुष्य की सम्पूर्ण चर्या–आहार, शौच, निद्रा

प्राकृतिक सम्पदा

गांधी का यह कथन कि 'यह धरती सबकी जरूरत पूरी कर सकती है, पर किसी एक का भी लालच पूरा नही कर सकती' न केवल तर्क के आधार पर, अपितु हालात को ध्यान में रख कर सोचें तो भी सर्वथा सही प्रतीत होता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी आज विकास के प्रखर सेतु मान लिए गए है, पर उनकी अधोगति से अब दुनिया परिचित होने लगी है। बहुत से कारणों में से इसका एक मुख्य कारण प्रौद्योगिकी की वह जटिलता भी रही है जो आम और निर्धन व्यक्ति की पहुंच से बाहर की चीज है। आम आदमी के लिए रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति बुनियादी बात है। ये आवश्यकताएं सरलता से कैसे पूरी हो सकती हैं यही देखना व्यवस्था का प्राथमिक दायित्व बनता है। आम आदमी के लिए भोजन, वस्त्र, आवास और जिन परिस्थितियो में वह जीता है उसमें निर्मित उसकी संस्कृति यदि बखूबी उपलब्ध रहे तो एक सन्तुलित और समतापरक समाज की परिकल्पना साकार हो सकती है।

इसके लिए कोई भी बाहरी 'मॉडल' उपयुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि वैसा 'मॉडल' निर्धन और आम आदमी की क्षमता से बाहर का होगा। वैसा 'मॉडल' बना देने में जो पूंजी और बाहरी संसाधनों की जरूरत पड़ेगी वे सहज रूप से बिना किसी प्रकार के विनाश के प्राप्त नही किये जा सकते। ठीक इसके विपरीत स्थानीय सामग्री और स्थानीय उपभोग को आधार मानकर यदि नीतिगत निर्णय ले लिए जाय और उसके क्रियान्वयन मे स्थानीय सहमति को प्रमुखता दी जाय तो एक नये प्रकार के समाज की संरचना की जा सकती है।

ऐसी संरचना मे हमारी प्राकृतिक सम्पदाएं अत्यधिक सहायक हो सकती है। प्रकृति में जो कुछ विद्यमान है उसका मूल्य अपरिमित है। उसके दोहन और उपभोग और उसकी पुनर्रचना, पुनर्भरण में नियंत्रण स्थापित करने की सामर्थ्य स्वयं प्रकृति के ही पास है। मनुष्य अपने विवेक से प्रकृति के इस अनूठे सामर्थ्य के साथ सुसंगति कायम करने के लिए यदि संकल्पित हो जाय तो शुरू मे उल्लिखित गाधी के कथन का गूढ़ार्थ हर व्यक्ति समझ सकता है।

मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है। उसे प्रकृति ने दो हाथ देकर उपभोग की सीमा निर्धारित कर दी है। मनुष्य की सम्पूर्ण चर्या–आहार, शौच, निद्रा,

सब में एक सीमा है और सबकी एक लय है। यह सीमा और लय विकृति की ओर उन्मुख न हो, यह मनुष्य के विवेक पर निर्भर है।

सम्पूर्ण मनुष्य समाज में विवेक के जाग्रत हो जाने से ही प्रकृति हमारी हर जरूरत को सहजता से पूरा कर पायेगी। यदि ऐसा नही होगा तो यही प्रकृति अपने दुष्चक्र से हमें अपने किये का मजा भी चखा देगी।

यदि हम स्वीकार कर लें कि हम सब–सम्पूर्ण प्राणि-जगत्–प्रकृति की सन्तान ही हैं तो यह मान लेने में हमे किंचित् भी झिझक नही होनी चाहिए कि हम बेसहारा नही हैं। प्रकृति की एक अनुपम निधि है वृक्ष। इस धरती पर और भारत भूमि पर इतनी विविध वृक्षावलिया है कि वे मनुष्य जाति से लेकर सम्पूर्ण प्राणि-जगत् की हर जरूरत पूरा कर सकती है। इसीलिए भारत के महान ऋषियों, महर्षियों ने पेड़ लगाने और उनकी परवरिश करने पर अपने उपदेशों मे सर्वाधिक बल दिया।

हम जानते हैं कि पेड-पौधे, विभिन्न प्रकार की वनस्पतिया, झाडियां, घासें धरती मां का आंचल हैं। आचल ही नही रक्षा कवच भी हैं। जब तक यह आचल या 'रक्षा कवच' ठीक हालत मे रहा, यह धरती, इसकी मिट्टी और इनमें बसेरा करने वाले कीट, जीव-जन्तु भी ठीक हालत मे रहे। तब तक तेज धूल-भरी आधियां, भूमि और मिट्टी का कटाव, बाढ, नदी-नालो का विध्वंसक बहाव भी नियन्त्रित रहता रहा। ज्यो-ज्यो इनका विनाश होता गया, विध्वंस की दु:खदायी घटनाएं भी बढती गई। अनेक सर्वेक्षणों मे इन घटनाओ की विस्तृत जानकारी हमे मिलती है।

राजस्थान में अरावली के जगलो के विनाश मे जो दुर्दिन पिछले एक-डेढ दशक से देखने पड रहे हैं वे केवल राजस्थान के लिए ही घातक नही हो रहे है, भारत के एक बडे भू-भाग को लील लिये जाने के खतरे पैदा हो गए है।

अरावली पर्वत शृखला गुजरात के पालनपुर से दिल्ली तक उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पूर्व की ओर लगभग 692 किलोमीटर मे विस्तृत है। इस 50 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे से कोई पांच हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में ही जगल बचे हैं। इस विनाश मे यहां के आदिवासी और गिरिजन समाज के जीवन और उनके भरण-पोषण पर जो दुष्प्रभाव पडा है वह तो पीडादायी है ही, पर इससे भी दु:खदायी असर पर्यावरण और परिवेशिकी पर पड़ा है जिसे फिर से व्यवस्थित करने का कोई अन्य विकल्प विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पास नही है।

डॉ. सरदारसिंह ढाबरिया के अनुसार वनविहीन अरावली के कारण इस भू-मण्डल पर बनी रहने वाली नमी की पर्त समाप्त हो गई है, और अब एक गर्म पर्त बनने लगी है। इसके कारण अरब सागर और बंगाल की खाड़ी से उठने वाले मानसून अब बिना बरसे ही जाने लगे है। यही पर्वत श्रृंखला एक समय में पूर्व और उत्तर-पूर्व की ओर भारतीय रेगिस्तान को रोकती भी रही है। लेकिन अब यह पर्वत-माला रेगिस्तान के विस्तार के प्रतिकार मे निर्बल हो गयी है।

वनो के विनाश से अरावली मे अचिंतित, अनुचित और अवैधानिक खनन कार्य भी बढ़ने लगा है। इससे यहा भू-क्षरण की समस्या विकराल होने लगी है।

अरावली के वनो के विनाश से पैदा होने वाली समस्याओं पर जो अध्ययन अब तक सामने आया है वह हमे सचेत करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन अभी तक न मालूम किस महाविनाश को और देखना है कि हमारी सुषुप्त अवस्था मे कोई हरकत नजर नही आ रही।

हमारी प्राकृतिक सम्पदाओं मे मिट्टी और जल अत्यधिक मूल्यवान ससाधन है। जल और मिट्टी के सह-चरण से जीवन का सचरण होता है। मिट्टी और जल में अनगिनत सजीव तत्त्व होते है। ऐसा माना जाता है कि एक घन सेंटी-मीटर उपजाऊ मिट्टी मे अरबो जीवित प्राणी है। आज इस जीवन्त मिट्टी को रासायनिक उर्वरकों से विनष्ट किया जा रहा है। दरअसल, प्रकृति की इस सम्पदा के साथ हमारा जीवन्त और सच्चा रिश्ता पूरी तरह से जैसे टूट-सा गया है। हमारी परिवेशिकी के साथ हिंसा और बिलगाव की इन परिस्थितियो मे प्रकृति प्रदत्त स्वास्थ्य, सौंदर्य और स्थायित्व दीर्घकाल तक प्रस्थापित नहीं रह सकते। इनके पुनर्स्थापन के लिए हमे लालच और स्वार्थ की वृत्ति का त्याग करना होगा और मानव मूल्यो का सम्मान कर उन्हे दृढ इच्छा-शक्ति के साथ अंगीकार भी करना होगा।

प्राकृतिक सम्पदा पर निर्भरता एक प्रकार से स्व-निर्भरता मानी जा सकती है क्योकि प्रकृति मे जो भी कुछ है–वनस्पति, जीव-जन्तु, जल-मिट्टी आदि, सभी जीवन्त है, प्राणवान है। जो जीवन्त या प्राणवान है उन्हें अपने लिए खुराक भी चाहिए। यह प्रकृति की ही खूबी है कि वह अपनी खुराक स्वयं तैयार करती है, उसी से वह स्वयं पोषण प्राप्त करती है और अपने ही द्वारा नियन्त्रित चक्र से दूसरों को भी पोषित करती है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जरिये सभी प्रकार के उत्पाद मनुष्य ने निर्मित कर लिए है, पर जीवनयापन के लिए जो पोषण या खुराक उसे चाहिए

उसके लिए वह अभी भी प्रकृति पर
है। इसलिए यह जरूरी है कि मिट्टी
उन सभी अवस्थाओं को ह. .
ऐसा करने में हम असफल रहे
समय दूर नहीं कि जीवनदायी पे.
पड़े।

यह निरर्थक अहंकार ही मानना
विज्ञान के जरिये 'कृत्रिम खुराक' प.

हम मानते हैं कि मिट्टी में भी ज
पुनर्भरण स्वयं करने की सामर्थ्य
साथ अत्यधिक उत्पादन ले लेने के ल
की जब कोशिश की जाती है तो वह
मानी जाती है। वह नैस... किया
जीवन्त तत्त्वों के नष्ट होने के स.
अप्राकृतिक तरीकों से अधिक ..
जहां-जहां बेशुमार इस्तेमाल होता
भी देख सकते हैं।

इस प्रकार अप्राकृतिक तरीकों से .
तो लिया जा सकता है, पर उन .
सकता है और न सन्तुलित ही रखा
वजह है कि ऐसे खाद्यान्नों ... वन
विभिन्न प्रकार की व्याधियां .र
जो खाद और कीटनाशकों (टोर
खाद्यान्नों, मिट्टी और जल में ...

मिट्टी में रासायनिक उर्वरकों की र
उसकी क्षमता से अधिक उत्पादन ...
सिलसिला बहुत जल्दी समाप्त हो .
के अति शोषण से निकले परिणामों .

जबकि मिट्टी की नैसर्गिक उर्वरा,
असंख्य जीवाणु तत्त्व होते हैं। ये ज.
सूखी पत्तियों, मृत पौधों तथा वि

करते है। इसके बदले में ये अपने अवशेष छोड़ते हैं जो मिट्टी को उर्वर बनाते है।

हम केंचुए को लें। यह जन्तु मिट्टी को उपजाऊ बनाने मे अत्यधिक सहायक होता है। अपना रास्ता बनाने के लिए केंचुआ दिन भर मिट्टी को आगे-पीछे खोदता रहता है। वह मिट्टी को मुह मे भर कर मल-मूत्र के साथ निकाल देता है। यदि जमीन मे हजारो केंचुए हो तो मिट्टी नरम और भुरभुरी बनने मे दिक्कत नही आती। ऐसा मानते हैं कि एक केंचुआ छ महीने मे 9 किलोग्राम सेन्द्रीय पदार्थ अपने शरीर से तैयार कर मिट्टी मे मिला देता है।

मिट्टी मे जो जीवाणु होते हैं वे एक घंटे में दो बार अपना वंश बढ़ाते है। इस प्रकार चौबीस घंटों में 1,70,00,000 जीवाणु पैदा होते है। इन जीवाणुओं पर अन्य जीव जन्तुओं का जीवन निर्भर रहता है। इस तरह यह एक ऐसा प्राकृतिक चक्र है जिससे हर जीव-जन्तु की जाति एक-दूसरे के नियंत्रण मे सहायक होती है।

इसी प्रकार बड़े मृत जानवरों को खाने के लिए गिद्ध, चील, गीदड़ रहते हैं। जगल को साफ-सुथरा रखने के ये अपने ही तरीके है जो सब कुछ सन्तुलित रखते हैं। इसे समझने के लिए भयानक दुर्भिक्ष और अकाल के कारण पश्चिमी राजस्थान मे सन् 1985, 1986 और 1987 मे मरे भारी पशुधन की ओर हम अपनी नजर करें। पशुधन की असंख्य मौतों के कारण जंगल सड़ान्ध मे नही बदल गये, पर हड्डियों के कंकाल हजारो मृत पशुओ की साक्षी देते रहे। क्यों ? गिद्ध और चील जंगल की सफाई के लिए तैनात जो है।

ये सभी बातें प्रकृति के अपने सहज सन्तुलन की बातें हैं जिसके लिए बाहरी या ऊपरी उपाय कभी भी पर्याप्त नही हो सकते।

लेकिन कई बार ऊपरी या बाहरी उपाय भी करने पड़ सकते हैं। यही पर मनुष्य का विवेक कसौटी पर चढ़ता है।

चीन का एक उदाहरण हमारे सामने है। चीन मे खाद के लिए मनुष्यों और पशुओं का मल-मूत्र ही काम में लेते हैं। भारत में जहा मेहतर पाखाना साफ करते है और बदले में उन्हें मेहनताना भी दिया जाता है, वही चीन के किसान घरों के पाखाने साफ करने का ठेका लेते है। इसकी उत्तम 'कम्पोस्ट खाद' बनती है और खेतो मे डाली जाती है।

चीन में तो यह बात एक शिष्टाचार की सज्ञा मे आती है कि कोई मेहमान जिस घर में खाना खाये अपना अवशिष्ट भी वहीं त्यागे। सन् 1908 मे

शंघाई नगर का पाखाना 2,50,000 रुपये (लगभग 31,000 डालर) में बिका था। उसमें से 3,80,00,000 टन अवशिष्ट निकला था। इसे मनुष्य के विवेक से निर्मित तकनीक कहा जा सकता है।

आज इन्हीं अवशिष्टों—मल-मूत्र आदि के कारण हमारे नदी जल प्रदूषण, नगरों-शहरों का प्रदूषण एक समस्या बना हुआ है। इसके समुचित और सार्थक उपयोग से इस समस्या से भी बचा जा सकता है और खेतों की मिट्टी को रासायनिक उर्वरकों के विनाश से भी बचाया जा सकता है।

मिट्टी की ही तरह प्राकृतिक सम्पदा में वायु और जल भी प्रमुख तत्त्व हैं।

शुद्ध वायु की जब हम बात करते हैं तो हमारा ध्यान वनों और पेड़-पौधों की ओर सहज ही चला जाता है। वन सम्पदा तो अपने आप में ही अपरिमित रूप से मूल्यवान है और मनुष्य से लेकर सभी जीवधारियों का पोषण करने का उसमे सामर्थ्य है। लेकिन सबसे अधिक पोषक तत्त्व जो हमे पेड़ो से मिलता है, वह है *अमूल्य 'आक्सीजन'*।

आक्सीजन की कीमत को यदि रुपयों मे तुलना करें तो एक वृक्ष एक साल मे *5,000 रुपये की प्राणवायु पैदा करता है। एक वृक्ष की औसत आयु यदि हम* 50 वर्ष मानें तो अपने जीवन काल में एक पेड़ हमे 2,50,000 रुपये मूल्य की 'आक्सीजन' प्रदान कर देता है।

आज वायु प्रदूषण के भारी सकट के दौर से हम गुजर रहे है। विज्ञान के पास भी वायु के शुद्धीकरण की कोई तकनीक नही है। वायु प्रदूषण पर नियंत्रण के लिए पेड़-पौधे ही एकमात्र सहारा है। पेड़-पौधे किसी भी उन्नत प्रौद्योगिकी के जरिये कारखानो मे पैदा नही हो सकते। अतः यह काम वनो और वृक्षावलियो पर ही निर्भर है।

वायुमण्डल को शुद्ध रखने के साथ-साथ पेड़ मिट्टी के कटाव, भू-क्षरण को रोकने की क्षमता भी रखते है। एक साधारण पेड़ भी एक सौ वर्ग मीटर क्षेत्र में मिट्टी को बहने से रोक देता है। साथ ही अपनी पत्तियो और अपने पर पक्षियो के बसेरे से मिट्टी को उर्वरा भी बनाता है।

पेड़ो का काम यही आकर थम नही जाता। मिट्टी मे आर्द्रता को बनाये रखने और जल के पुनर्चक्रीकरण मे भी वनो का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वनो से वायुमण्डल का तापमान घटता है, आर्द्रता बढ़ती है जो अन्ततः वर्षा मे सहायक होती है।

पेड पशु-पक्षियो व मनुष्यो के लिए भोजन, ईंधन, रेशा आदि भी देते है।

एक अनुमान से वृक्ष का कुल योगदान यह माना गया है—

एक वृक्ष की औसत आयु पचास वर्ष मानते हुए—

1.	आक्सीजन का निर्माण	2,50,000 रुपये
2.	वायु प्रदूषण पर नियंत्रण	5,00,000 ,,
3.	भू-क्षरण रोकने और मिट्टी में उर्वरा शक्ति का निर्माण	2,50,000 ,,
4.	जल का पुनर्चक्रीकरण व आर्द्रता पर नियंत्रण	3,00,000 ,,
5.	पशु-पक्षियों को बसेरा	2,50,000 ,,
6.	प्रोटीन व वसा का निर्माण	20,000 ,,
	कुल योग	15,70,000 ,,

इस प्रकार एक वृक्ष अपने जीवन काल में 15,70,000 रु. मूल्य का योगदान प्रदान करता है। लेकिन यह तो एक व्यावसायिक तरह का आकलन है। इस आकलन को सही आकलन नहीं कहा जा सकता क्योंकि पेड़-पौधे, वन आदि सम्पूर्ण पर्यावरण और परिवेशिकी के आधार है और जो कुछ प्रकृति में विद्यमान है वे सब एक-दूसरे पर जिस प्रकार से अवलम्बित हैं उसके आधार पर इसका मूल्य और परिमाण अपरिमित है।

प्रकृति की एक और अनूठी-अनोखी सम्पदा है जल। जल तो जीवन ही है। यह मानकर चलते है कि जहां जल है वहां अवश्य ही जीवन है। इस प्रकृति में जो कुछ विद्यमान है उसमें मिट्टी और जल का ही सर्वाधिक सहकार है। जिस क्षेत्र में अच्छी मिट्टी और पर्याप्त जल है वहा सम्पदा का विपुल भण्डार होना मान सकते है। वह एक समृद्ध क्षेत्र कहा जा सकता है।

मानव समाज को जल के रूप में प्रकृति से प्रदत्त एक अनुपम, अनमोल भेंट है। प्रकृति का यह संसाधन यद्यपि बहुत सीमित है, तब भी विवेक सम्मत उपयोग यदि होता रहे तो इसे अपरिमित भी मान सकते हैं।

जल की दृष्टि से भारत को दो हिस्सों में बाट सकते है। एक नम अथवा जल-बहुल क्षेत्र और दूसरा सूखा अथवा जलविहीन क्षेत्र। लेकिन जिस क्षेत्र को हम जलविहीन क्षेत्र मानते है वहां भी वर्षा का पानी तो होता ही है। वर्ष भर में इतनी *'बरसात' तो हो ही जाती है कि वर्षा के समूचे पानी को अगर संगृहीत* कर लिया जाय तो वह उपभोग के अनुपात में काफी पर्याप्त होता है।

ऐसे क्षेत्रों में जल संग्रहण के परम्परागत तरीकों का अति विकसित और समुचित रूप हमें देखने को मिल सकता है। पश्चिमी राजस्थान के थार मरुस्थलीय जिलों में ऐसे जल संग्रहण क्षेत्र व प्रणालियां देखी जा सकती है।

वर्षा के जल पर ही मुख्य निर्भरता के कारण इन क्षेत्रों में जल के उपभोग के भी अत्यन्त सकुचित और नियंत्रित स्वभाव लोगों में रहे हैं। एक ही जल से नहाने-धोने, पोंछा लगाने, गोबर थापने और ऐसे ही बहुविध उपयोग प्रचलित रहे है। इस प्रकार की परम्परा को प्रकृति के सानुकूल माना जाता रहा है और इससे मानव जीवन भीषण दुविधाओ से बचा भी रहा है। ऐसे परम्परागत तरीके भारत के हर हिस्से में रहे है।

अब हम पहले यह देखें कि पानी आता कहां से है और कहा चला जाता है। जितना पानी प्रकृति से प्राप्त होता है – वर्षा से, नदी, पहाड़ो और बर्फ के पिघलने आदि से, वह आज भी उतना है जितना कि धरती के प्रारम्भ मे रहा होगा। भारत इस दृष्टि से दुनिया मे सबसे अधिक समृद्ध देश है जिसके पास हिमालय का विपुल जल स्रोत है।

इस भू-मंडल पर तेरह सौ मिलियन (एक मिलियन के बराबर दस लाख) घन मीटर पानी उपलब्ध है। यह संख्या हमारे दिमाग को झकझोरने वाली है, पर सत्य है। इस उपलब्ध पानी का 97 प्रतिशत पानी समुद्रो या नमकीन है। शेष मीठा पानी है। इसमे द्रव रूप मे मात्र 0.7 प्रतिशत ही है, बाकी बर्फ के रूप में है। द्रव रूप में उपलब्ध 0.7 प्रतिशत मे से भी 0 6 प्रतिशत भूतल में है और 0 1 प्रतिशत पानी नदी-झीलों में है।

इन आकड़ों से हमें भूतल के जल की महत्ता का अनुमान हो जाता है।

लेकिन जल का एक दूसरा स्रोत वर्षा भी है। दुनिया की समूची धरती पर जितनी वर्षा प्रतिवर्ष होती है उससे कुल 10,000-12,000 मिलियन हेक्टेयर मीटर पानी प्राप्त होता है। भारत मे वर्षा के पानी का कुल अनुपात 400 मिलियन हेक्टेयर है। इसमे से दो सौ तीस एम. एच एम. पानी वाष्प बन कर उड़ जाता है। एक सौ दस एम. एच. एम. नदी-झीलो में चला जाता है और शेष 60 एम. एच. एम भूतल में चला जाता है। यह पानी भूतल के जल का पुनर्भरण करता है।

हमारे यहां पानी की दैनंदिन खपत प्रति व्यक्ति 50 लीटर मानी गई है। इस प्रकार भारत की कुल आबादी को मात्र 1.4 मिलियन हेक्टेयर पानी चाहिए। जाहिर है पानी की कमी नहीं, उसके प्रबन्ध की कमी है।

डॉ. स्वामीनाथन सहित अनेक कृषि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यदि हम अपने देश के 'बरसाती' पानी का बेहतर उपयोग कर सकें – जिसकी अति अनुकूल सम्भावनाएं हैं–तो अनेक समस्याओ का समाधान संभव है। खाद्यान्न

उत्पादन के क्षेत्र में भी इससे वृद्धि की जा सकती है। इस समय देश में 16 करोड़ टन खाद्यान्न पैदा होता है जबकि वर्षा के पानी को कृषि का आधार बना लेने पर कृषि वैज्ञानिक मानते हैं कि भारत की खाद्यान्न उत्पादन क्षमता 3500 से 4000 मिलियन टन हो सकती है। यह वर्तमान क्षमता से बीस गुना अधिक होगी।

अकेले राजस्थान में ही वर्षा के जल संग्रहण से खेती की जाय तो अब से दुगुना अनाज पैदा किया जा सकता है।

इस तरह हम देखते है कि प्रकृति की एक विपुल सम्पदा जो जल है, हमे वरदान की तरह प्राप्य है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मानवीय स्वरूप यदि बन जाय तो इस सम्पदा के बेहतर उपयोग के उपाय खोजे जा सकते हैं।

जल सम्पदा के उपयोग के जो बेहतर उपाय इस समय हमारे सामने है वे बड़े-बड़े भीमकाय बांधों और नहर योजनाओ के रूप में ही दिखाई दे रहे है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने परम्परागत तालाबों, झीलों, जोहड़ों, कुइयों, बेरियों उकेरियों की उपेक्षा की है जो वर्षा के पानी के संग्रहण के सम्पन्न उपाय थे। थार मरुस्थल में, जो जलाभाव के लिए जाना जाता है—कुइयां, बेरियां उकेरियां, जोहड़, टांके आदि जलापूर्ति के विश्वसनीय साधन बने रहे हैं।

यह विश्वसनीयता इंदिरा गांधी नहर परियोजना के आते ही टूटी है। बीकानेर जिले के कई गांव इंदिरा गांधी नहर परियोजना से पेयजल आपूर्ति के बतौर जुड़े हुए हैं, लेकिन वहां लोगों को दुर्दिन ही देखने पड़ रहे हैं। नहर से पानी आने का कोई भरोसा नही रहा है। इन गांवों के लिए जब नहर से पेयजल योजना बनी और 'जल सप्लाई' शुरू हुई तो गांव जनों में उल्लास और उत्साह था, पर बहुत जल्दी यह उल्लास ठंडा पड़ गया। बीकानेर में बामनवाली, शुभलाई, सोडवाली और जैसलमेर जिले मे सुल्ताना, अर्जुना, डीगा आदि गाव ऐसे ही हैं जहां नहर का पानी पहुंचते ही लोग पारम्परिक स्रोतो को भूल गए और अन्ततः पछताए।

देश की भू-जल सम्पदा का उल्लेख हमने ऊपर किया है, लेकिन इसका जल स्तर भी निरन्तर घट रहा है। लाखो नलकूपो से खीचे जाने वाले पानी से कीमती जल भंडारों का कितना क्षय हुआ इसका तथ्यात्मक विवरण तो नही बताया जा सकता, पर जिन क्षेत्रों में भू-गर्भ के जल का स्तर नीचे चला गया है वहां उसके उपयोग के प्रति सतर्क होना अत्यन्त जरूरी है। लेकिन इस अनिवार्यता के प्रति कोई सचेत नही है। जोधपुर जिले में मथानिया गांव में अस्सी नलकूप है। इन्हीं नलकूपों के पानी से यहा लाल मिर्च की बेशुमार खेती

की जाती है। यहां सन् 1974 से 1988 तक पिछले चौदह वर्षों में पानी का जल स्तर बारह मीटर नीचे जा चुका है। जिस भारी मात्रा में हम भूतल के पानी को मशीनों से उलीच रहे है उसी मात्रा में वह 'रिचार्ज' नहीं हो रहा। यह बात हमे सोचने को विवश करती है कि भू-जल का उपयोग हम किस रुप मे करें।

वैकल्पिक तौर पर जो उपाय हमारे सामने हैं उनमें से एक ही पुख्ता उपाय है वर्षा के पानी का अधिकतम सग्रहण। वर्षा के पानी को रोकने के लिए तालाबो के निर्माण की परम्परा हमारे यहां बहुत प्राचीन रही है। इन तालाबों के आगोर (केचमेन्ट एरिया) इतने व्यवस्थित रहे है कि वर्षा की एक बून्द भी बेकार न जाय। इन आगोरों की पवित्रता को बनाये रखने के प्रबन्ध भी बहुत माकूल रहे हैं। अनेक सरोवरो के आगोर तो इतने पवित्र माने जाते रहे हैं कि वहा कोई जूते पहन कर भी नही जा सकता। शौच, मल-मूत्र त्याग तो इन क्षेत्रो मे पूरी तरह वर्जनीय माना जाता रहा है। लेकिन यह परम्परा अब समाप्त प्राय: है।

राजस्थान के दो बडे जिले जोधपुर मे 50 और बीकानेर मे 40 तालाब सन् 1988 तक तो देखने को मिलते रहे हैं, पर वे तब उपयोग की हालत मे नही रहे। लेकिन बीकानेर जिले के कोलायत गाव में विशाल कपिल सरोवर अभी भी अपनी विपुलता को लिए हुए है। इस तालाब के 64 घाट है और करीब एक सौ उनचास वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे इस तालाब का आगोर फैला हुआ है। पर दुर्भाग्य कि ईंट भट्टों के लिए मिट्टी खोदने वालों ने इस के आगोर को भी नही छोड़ा है।

अब ऐसे तालाबों की परम्परा तो जैसे लुप्त प्राय. ही हो गई है। गावों के लिए और विशेष रुप से ऐसे क्षेत्रों के लिए जिन्हे पूरी तरह से वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है—तालाब, टाके, जोहड़, कुइया ही बेहतर तकनीक साबित हो सकते हैं।

आकड़ो से यह पता चलता है कि वर्षा के पानी का बहुत बड़ा अश संगृहीत नहीं होता और वह बह कर चला जाता है। उसका संग्रहण किया जा सकता है। यह कार्य कठिन भी नही है। यह माना जाता है कि देश की तीन प्रतिशत भूमि पर तालाब रहे है। इन तालाबों मे होने वाली वर्षा का 25 प्रतिशत पानी भी जमा होता रहा है। अत: तालाब बनाकर वर्षा के पानी को रोकने की तकनीक समुचित और बेहतर तकनीक है, लेकिन आज इसे पूरी तरह भुला दिया गया है।

इनकी जगह अब बड़े बांधों और नहरो ने ले ली है। देश मे बड़े बाध और वृहद् सिचाई योजनाएं हमारे पर्यावरण के लिए कितना उपयुक्त हैं इस पर भी

अब तीखे सवाल खड़े होने लगे हैं। इन बांधों के बनने से लोगों के उजड़ने, वनों के विनाश होने, वनस्पति और वन्य जीवों के ह्रास से पर्यावरण और परिवेशिकी पर जो प्रतिकूल असर पड़ता जा रहा है उससे हमारे नियोजक बेखबर है।

भाखड़ा बांध और पोंग बांध के कारण हजारों परिवार उजड़ गए। भाखड़ा बांध के कारण 2100 परिवार और पोंग डेम के कारण 16000 घर उजड़े।

नर्मदा घाटी परियोजना के अन्तर्गत तीस बड़े बांध, 300 मंझोले बांध और तीन हजार छोटे बांध बनेंगे। बीस हजार करोड़ रुपये की यह योजना किसे, कब, क्या देगी यह तो भविष्य के गर्भ में है, लेकिन इस परियोजना के कारण एक लाख तीस हजार लोग विस्थापित होंगे। एक लाख 28 हजार हेक्टेयर भूमि डूब में आ जायेगी और इसमे 44 हजार हेक्टेयर वन भी विनष्ट हो जायेंगे। यह सारा मामला ही दहला देने वाला है। लेकिन कितने लोगो को इसकी परवाह है। जो क्षति होने वाली है उसकी आपूर्ति भी कभी होगी, सच-सच बताने वाला कोई नही है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस रूप को रौद्र और विध्वंसक ही कहा जायेगा जो हमारे पर्यावरण और परिवेशिकी के लिए कत्तई उपयुक्त नही है, पर आधुनिक विकास के हिमायती लोगों को अभी यह बात समझ मे नही आ रही।

इन बांधो का निर्माण ऊर्जा और कृषि के लिए ही किया जा रहा है। लेकिन अनेक कृषि विशेषज्ञ अब तालाबों की ओर लौट रहे हैं। भूतपूर्व कृषि आयुक्त डॉ. डी. आर भूंबला मानते है कि पानी का बेहतर प्रबन्ध तालाबों के जरिये किया जा सकता है। तालाबों से अधिक पैदावार लेने के साथ, बाढ़ों को रोकने और भूगर्भ का जल स्तर बढाने में भी तालाबों से मदद मिलती है।

एक समय था जब तालाब पर्यावरण का हिस्सा थे और वन, मिट्टी की तरह जीवनाधार भी थे। यही कारण रहा कि तमिलनाडु में 27 हजार तालाब होने का उल्लेख मिलता है। मध्यप्रदेश में तालाबों से सिंचाई की परम्परा रही है। महाराष्ट्र में भी ऐसा ही रहा है। सन् 1958-59 तक पूरे देश में कुल सिंचित क्षेत्र मे तालाबों से सिंचाई का भू-भाग 21 प्रतिशत था जो 1978-79 में घटकर दस प्रतिशत रह गया।

इसकी वजह क्या है? आजादी के बाद विकास की जो दिशा रही उसमें भी तालाबों की उपेक्षा क्यों हुई? क्यों बड़े बांधों की तरफ देश के नियोजकों का रुझान बढ़ता चला गया? ये बांध फल तो जब देंगे तभी पता चलेगा, पर कुफल तो इनके शुरू होने से ही मिलने लग जाते हैं।

जो कुछ हमारी परम्परा में विद्यमान था उसे बेकार क्यों मान लिया गया ?

इन सब बातों की तफसील में जाने से यह मन्तव्य बनता है कि आधुनिक विकास की 'डोर' जिन अंगुलियों मे थमी है वे हमारी अपनी परम्परा से परिचित अंगुलियां नही रही। विकास का लाभ मुट्ठी भर हाथों मे सिमटा रहे और बहुसंख्य आबादी हमेशा उनकी मोहताज बनी रहे – इस विकास का यही अर्थ बच रहता है।

यह दृष्टि न भारतीय है, न ही पर्यावरणीय दृष्टि है और न इसमें समता के दर्शन होते हैं। यह एकांगी दृष्टि है। जबकि भारत का पर्यावरण समग्रता का दृष्टि-कोण लेकर, समतोल और सन्तुलन का दर्शन लेकर चलता रहा है।

पर्यावरण और परिवेशिकी के बारे में विदेशी समझ रखने वाले बहुत से लोग बढ़ती आबादी को भी पर्यावरण असन्तुलन का एक बड़ा कारण मान बैठे हैं। आज जो परिस्थितियां हमारे मध्य हैं उन में हमे यह कारण सही प्रतीत होता है। लेकिन वास्तविकता यह नही है। भारत के संदर्भ में हम देखें। हम अपने पर्यावरण और परिवेशिकी के समतोल को बने रहने देने का प्रयास करें और यह मानें कि जो कुछ प्रकृति में है वह सबके लिए है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बेजा दबावों से प्रकृति को मुक्त रखने मे यदि हम सफल हो जायें तो भारत के प्राकृतिक संसाधन दुगुनी आबादी का पेट भर सकने के सामर्थ्य में भी खरा उतर सकते हैं। बेशक यह मान लेना चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी कुछ हाथों मे, कुछ लोगों के हितों व स्वार्थों को पूरा करने के लिए नहीं होकर यदि सबके लिए हो तो वे सहायक भी सिद्ध हो सकते है क्योंकि वैसी प्रौद्योगिकी हिंसक प्रौद्योगिकी नही होगी। तब विज्ञान और आत्मज्ञान में समन्वय और सहोदर का रिश्ता स्थापित हो सकेगा।

शायद हमें एक बारगी यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण ही लगे कि वर्तमान प्राकृतिक संसाधन दुगुनी आबादी का पेट भर सकते हैं। लेकिन गहराई में जायें तो ऐसा नही लगेगा। भारत में उपलब्ध मानव श्रम को हम अभी यथोचित काम में नही लगा पाये है। यह प्रश्न समाजशास्त्रियों के लिए चुनौतीपूर्ण है कि करीब चालीस हजार जातियों वाला हमारा समाज अब तक कैसे टिका रह सका। इसका एक ही कारण है जो परिवेशिकी से जुड़ा है। भारतीय समाज संयम और आस्थाओं से भरा समाज है। यहां जातीय आधार पर धन्धों का वर्गीकरण और ऐसी ही स्व-नियंत्रित व्यवस्था रही है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और उपभोग में भी वही परम्परा रही है। यही कारण है कि दुनिया की कितनी ही सभ्यताएं और संस्कृतियां नष्ट हुईं, पर भारत की सभ्यता

और सस्कृति पर चाहे कितने ही हमले हुए, लेकिन वह मस्तक उठाकर बराबर खड़ी रही।

इसका एक दूसरा कारण भी रहा है। भारतीय परम्परा में मिट्टी और जल दोनों ही पवित्र और पूजनीय माने जाते रहे है। नदियों, सरोवरों के जल और उनकी मिट्टी किसी न किसी रूप में पवित्र मानी गई है। यही बात पेड़-पौधों और बहुत अंशों तक पशुधन के बारे में है। पेड़ों और पशु-पक्षियों की भी यहां पूजा होती रही है। गाय और विषैला सर्प दोनों पूजे जाते है। इन परम्पराओं की वर्तमान युग में क्या सामंजस्य और उपादेयता शेष रही है—इस पर भी समाजशास्त्रियों को चिन्तन करना अपेक्षित है। तथाकथित प्रगतिशीलता का जामा पहने हमारे चिन्तक इनको निरा पोंगापन करार दे सकते है, लेकिन प्रगतिशीलता का अर्थ किसी भी हालत मे अधोगति की ओर उन्मुख होना नही है। अतः इन परम्पराओं में पोंगापन देखने की जगह इनके वैज्ञानिक और प्रतीकात्मक अर्थों को उजागर करने की जरूरत है।

हमारे देश की प्राकृतिक सम्पदा के बारे में यद्यपि समग्र अध्ययन तुलनात्मक दृष्टिकोण के साथ अब तक भले न हुआ हो, पर फुटकर अध्ययनों से जो नतीजे निकलते हैं वे भी आशान्वित तो करते ही हैं।

खाद्य और कृषि संगठन ने 1983 मे 'विकासशील विश्व में भूमि की सम्भावित क्षमता और जनसंख्या' पर एक अध्ययन किया। विवादास्पद होने के बाद भी इस अध्ययन से भारत का एक सन्तोषप्रद चित्र उभरता है। इस अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि सन् दो हजार तक देश की आबादी करीब 104 करोड़ तक पहुंच जायेगी, पर इसके साथ ही विभिन्न परम्परागत सिंचाई योजनाओं के समुचित उपयोग से उपज भी बढ़ जायेगी। इस तरह यह अनुमान लगाया गया है कि सन् दो हजार तक देश के 262 करोड़ 10 लाख लोगों का पेट भरने की क्षमता इस भूमि की होगी। लेकिन यह तभी होगा जब हम अपनी परम्परा में लौटें। इसे पीछे लौटना भी नही कहा जायेगा। यह तो यथार्थ और उसमे से निकले नतीजों तथा अनुभवों से सबक लेना और अपनी समझ को सही करना माना जायेगा।

देश की 270 करोड़ 50 लाख हेक्टेयर भूमि खेती लायक है। इस कुल जमीन की अलग-अलग स्थितियां होते हुए भी यह तय है कि सम्पूर्ण जमीन का यथोचित उपयोग करने की एक सुनियोजित योजना तैयार करने से उक्त अध्ययन के निष्कर्ष के समरूप लक्ष्य अर्जित किये जा सकते है।

पवनार में प्रयोग किये गए। विनोबा का मानना है कि एक एकड भूमि मे अपने संसाधनों और अपने हाथों से सिचाई कर एक किसान अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है।

ये सब वे उपाय है जो तथाकथित आधुनिक विकास से कोई मेल नही खाते। इस बिगडी हुई हालत मे जो कारगर उपाय हो सकते है वे तकनीकों पर आधारित न होकर प्राकृतिक प्रक्रियाओ से ही जुड़े हो सकते है। इन्ही उपायों मे हम दीर्घकालीन स्थायित्व की ओर बढ सकेंगे।

ऐसी कृषि व्यवस्था ही, जिसमें जैव्य खाद, फसल चक्र और घासों का सन्तुलित उपयोग होगा, एक समुन्नत कृषि व्यवस्था साबित होगी। इसमे मिट्टी की उर्वरता के लिए बाहरी उपायो की जगह मिट्टी मे ही पैदा होने वाली खुराक सहायक होगी। कृषि और पशुपालन साथ-साथ चलेंगे जिससे मिट्टी की उर्वरता की सहज पूर्ति होती रह सके।

इस प्रकार विपुल प्राकृतिक सम्पदा के रूप में मिट्टी, जल, वन मुख्य है जो जीवनाधार बने रह सकते हैं। कृषि का सन्तुलित उपयोग इस आधार मे सहायक हो सकता है। मिट्टी, जल और वन के समतोल के लिए प्रकृति की गोद मे ही बैठे जीव-जन्तु, पशु-पक्षी भी सहायक होते हैं। इस तरह ये ऐसी कड़ियां है जो एक दूसरे मे पूरी तरह आबद्ध है। इनका विशृंखलन ही विनाश का कारण बनता है। इनका शृंखलाबद्ध स्वरूप सबका जीवनाधार बना रह सकता है।

लेकिन यह कैसे रह सकता है? हमें यह समझ लेना जरूरी है कि हमारी प्राकृतिक सम्पदा की बर्बादी किन कारणो से हो रही है, कौन कर रहा है? सबसे बड़ा संकट आधुनिकीकरण है। कृषि हो या उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों में आधुनिकीकरण ने हमारी प्राकृतिक सम्पदा को बुरी तरह रौंदा है।

कृषि के क्षेत्र में आज हम देखते है कि किसान का नकदी फसलो की ओर रुझान बढ़ा है। लेकिन इसका कारण क्या है? बड़ी सिंचाई योजनाओ से जो पैदावार ली जाती है वह परम्परागत सिंचाई प्रणालियों से काफी महंगी बैठती है। ऐसी हालत में यदि नकदी फसलों का सहारा नही लिया जाये तो घाटे को कभी पूरा ही नही किया जा सकता। खेतों की जमीनों पर भी सफेदा जैसे पेड़ो का सघन वृक्षारोपण इसी कारण बढता चला जा रहा है। सफेदा केवल खेतो में मिट्टी का शोषण ही नही करता, वे खेतिहर मजदूर जो अब तक खेतो मे श्रम का पसीना बहा कर अपने रोजगार का सहज ही जुगाड कर लेते थे–सफेदे के बाद बेसहारा-बेहाल होने लगे हैं। सफेदा औद्योगिक उपयोग का पेड़ हो

सकता है, लेकिन ऐसा औद्योगिक उत्पाद आम आदमी को क्या देता है? कुछ नहीं।

खेती की ही तरह औद्योगीकरण भी आम आदमी के लिए अब तक सहायक सिद्ध नहीं हुआ है। उद्योगों को कच्चा माल कहां से मिलता है? प्रकृति से। पर यह किन लोगों से छीन कर उद्योगों की भेंट चढ़ता है?

खाद्य व कृषि संगठन के भूतपूर्व विशेषज्ञ डॉ. बी वी कृष्णमूर्ति ने दक्षिणी मैसूर के कुछ क्षेत्रों का अध्ययन किया और बताया कि कागज के कारखाने लग जाने से यहां के किसान संकट में पड़ गए हैं। नंजन गूड के पास कबिनी नदी के अगल-बगल में कई कागज के कारखाने हैं। सरकार ने फसलों का कचरा काम में लेने की छूट भी इन कारखानों को दे दी। यही कचरा एक समय तक यहां के पशुओं के लिए चारे के रूप में काम आता रहा है। अब तो कजरी घास और धान का पुआल भी कारखानों की भेंट चढ़ना शुरू हो गया। ज्यों-ज्यों ऐसा होता गया इस क्षेत्र का किसान और पशुधन संकट में पड़ता गया।

महाराष्ट्र के भंडारा और चन्द्रपुर जिलों के लोगों का पुश्तैनी धन्धा चटाई और टोकरी बनाना है। इसके लिए कच्चा माल बांस है। पहले यह बांस जंगलों से मिल जाता था, पर फिर सरकार का आधिपत्य हो गया। अन्ततः बांस भी कागज के कारखानों की बलि चढ़ गया। बुरड जाति के ये लोग बेकार हो गए।

इसी प्रकार कितनी ही अन्य वन सम्पदाओं को उद्योगों की भेंट चढ़ाया जा रहा है। औद्योगीकरण के कारण जहां वन सम्पदा आम आदमी के हाथों से छिनी जा चुकी, वहीं कारखानों के अपशेष उनके जीवन को दूषित करने के लिए छोड़ दिये गए। इस तरह आम आदमी दोनों तरह से ठगा गया।

अतः यह जरूरी हो जाता है कि विकास के इन प्रतिमानों को पूरी तरह बदला जाये।

यह माना जा सकता है कि भूख, गरीबी और बेहाली की हालत में पर्यावरण और परिवेशिकी की बात किसी के हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती, लेकिन आत्मघात करने की छूट भी किसी को नहीं दी जा सकती। समाज तथा व्यवस्था को इस बात पर टिकाये रखना मुट्ठी भर पर्यावरणवादियों के लिए दुष्कर काम तो हो सकता है, पर असंभव नहीं। क्योंकि यह प्रकृति जो स्वयं अपनी नियंता है—ऐसे ही लोगों के साथ हो सकती है जो प्रकृति को मां मानते हों। हमें नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रकृति जहां रचना या सृजन करती है, वहीं विध्वंस और विनाश भी करती है।

ताकि सनद रहे

फिर से एक नये समाज की रचना करने की दिशा मे कौन पहले आगे आये ? यह सवाल गभीर भी है और चुनौतीपूर्ण भी। हम देख रहे हैं कि विकास का जो पहिया इस समय जिस गति से चल रहा है वह जीवन देने के लिए नही, गर्दनें उडा देने के लिए ही जैसे चल रहा हो। यह विकास वरदान है या अभिशाप, इस बात को चिन्तनशील समाज पूरी तरह समझ चुका है। तब भी वह उससे मुक्त नही हो पा रहा है। जो जाल विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सहारे बुना जा चुका है उसे काटने का सामर्थ्य इसमें भी नही है। परमाणु ऊर्जा के विकिरण और रासायनिकों से पैदा होने वाले प्रदूषणों से उत्पन्न खतरो को झेलने के सिवा बचने का कोई उपाय हमारी इस कथित बेहतरीन प्रौद्योगिकी के पास भी नही है। पूरी दुनिया इन खतरो मे चिंतित है, लेकिन किसी के पास कोई उपाय नही है।

समूची दुनिया में इन खतरो से चिंतित कोई व्यक्ति यदि रहा है तो उनमे एक गांधीजी हैं। सन् 1908 में जिस 'हिन्द स्वराज' पुस्तक की रचना बापू ने की–अपने उन विचारो को वे अन्त तक सही मानते रहे। 5 अक्टूबर, 1945 को महात्मा गांधी ने एक पत्र इसी सम्बन्ध में पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी लिखा। ये दिन हमारी आजादी की लडाई के परवान चढते दिन थे। आजादी के तुरन्त बाद भारत को क्या दिशा लेनी है उस पर भी सोचने का यही सही समय था।

गांधीजी को यह स्पष्ट प्रतीत होता रहा कि पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता पूरी तरह से अमानवीय है और अपने पर्यावरण-परिवेशिकी से कटी हुई है। भारत के माध्यम से गांधीजी सम्पूर्ण विश्व के सामने एक ऐसे समाज का प्राकल्प प्रस्तुत करना चाहते थे जिसमें सत्य और अहिंसा हर एक की जीवन-दृष्टि बने और दानवी सभ्यता से मुक्ति मिल सके।

गाधीजी का पंडित नेहरू को लिखा यह पत्र एक ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है जिसे कई दृष्टियो से विवेचित-विश्लेषित किया जा सकता है। जहा तक पर्यावरण और परिवेशिकी का प्रश्न है यह पत्र स्पष्ट दृष्टि लिए हुए है जो

केवल भौतिक और वस्तुगत विकास की सीमाओं की ओर ही नहीं, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक विकास और सरोकारों की तरफ भी इंगित करता है। गांधी अपने पत्र मे लिखते हैं—

चि जवाहरलाल,

तुमको लिखने का तो कई दिनों से इरादा किया था, लेकिन आज ही उसका अमल कर सकता हूँ। अंग्रेजी मे लिखूं या हिन्दुस्तानी में यह भी मेरे सामने सवाल रहा था। आखिर मे मैंने हिन्दुस्तानी मे ही लिखने को पसन्द किया।

पहली बात तो हमारे बीच मे जो बड़ा मतभेद हुआ है उसकी है। अगर वह भेद सचमुच है तो लोगो को भी जानना चाहिए क्योकि उनको अन्धेरे में रखने से हमारा स्वराज का काम रुकता है। मैने कहा है कि 'हिन्द स्वराज' मे जो मैंने लिखा है उस राज्य पद्धति पर मैं बिल्कुल कायम हूँ। यह सिर्फ कहने की बात नही है, लेकिन जो चीज मैंने 1908 के साल में लिखी उसी चीज का सत्य मैंने आज तक अनुभव से पाया है। आखिर में मैं एक ही उसे मानने वाला रह जाऊं उसका मुझ को जरा-सा भी दु.ख न होगा। क्योकि मैं जैसे सत्य पाता हूँ उसका मैं साक्षी बन सकता हूँ। 'हिन्द स्वराज' मेरे सामने नही है। अच्छा है कि मैं उसी चित्र को आज अपनी भाषा में खींचू। पीछे यह चित्र 1908 जैसा ही है या नहीं उसकी मुझे दरकार न रहेगी, न तुम्हे रहनी चाहिए। आखिर में तो मैंने पहले क्या कहा था उसे सिद्ध करना नही है, आज मैं क्या करता हूं वही जानना आवश्यक है।

मैं मानता हूँ कि अगर हिन्दुस्तान को सच्ची आजादी पानी है और हिन्दुस्तान के मारफत दुनिया को भी, तब आज नही तो कल देहातों में ही रहना होगा—झोपड़ियों में, महलो में नही। कई अबज (अरब) आदमी शहरों मे और महलों में सुख से और शान्ति से कभी रह नही सकते, न एक दूसरों का खून करके मायने हिंसा से, न झूठ से यानी असत्य से। सिवाय इस जोड़ी के (यानी सत्य और अहिंसा) मनुष्य जाति का नाश ही है उसमे जरा सा भी शक नही है। उस सत्य और अहिंसा का दर्शन हम देहातों की सादगी में ही कर सकते है। वह सादगी चर्खा मे और चर्खा मे जो चीज भरी है उसी पर निर्भर है।

मुझे कोई डर नही कि दुनिया उल्टी ओर ही जा रही दिखती है। यों तो पतंगा जब अपने नाश की ओर जाता है तब सबमे ज्यादा चक्कर खाता है और चक्कर खाते-खाते जल जाता है। हो सकता है हिन्दोस्तान इस पतंगे के चक्कर मे से न बच सके। मेरा फर्ज है कि आखिर दम तक उसमे से उसे और उसके मारफत जगत् को बचाने की कोशिश करूं। मेरे कहने का निचोड़ यह है कि मनुष्य जीवन के लिए जितनी जरूरत की चीज है उस पर निजी काबू होना

चाहिए—अगर न रहे तो व्यक्ति बच ही नही सकता है। आखिर तो जगत् व्यक्तियों का ही बना है। बिन्दु नही है तो समुद्र नहीं है। यह तो मैंने मोटी बात ही कही कोई नई बात नही की है।

लेकिन 'हिन्द स्वराज' मे भी मैंने यह बात नहीं की है। आधुनिक शास्त्र की कदर करते हुए पुरानी बात को मैं आधुनिक शास्त्र की निगाह से देखता हूँ तो पुरानी बात इस नये लेबल में मुझे बहुत मीठी लगती है। अगर ऐसा समझोगे कि मैं आज की देहातों की बात करता हूँ तो मेरी बात नही समझोगे। मेरी देहात आज मेरी कल्पना मे ही है। आखिर मे तो हर एक मनुष्य अपनी कल्पना की दुनिया में ही रहता है। इस काल्पनिक देहात मे देहात जड़ नही होगा—शुद्ध चैतन्य होगा। वह गन्दगी मे, अन्धेरे कमरे मे जानवर की जिंदगी बसर नही करेगा, मरद और औरत दोनो आजादी से रहेगे और सारे जगत् के साथ मुकाबला करने को तैयार रहेगे। वहां न हैजा होगा, न मरकी होगी, न चेचक होगे। कोई आलस्य मे रह नही सकता है, न कोई ऐश-आराम मे रहेगा। सबको शारीरिक मेहनत करनी होगी। इतनी चीज होते हुए मैं ऐसी बहुत सी चीज का ख्याल करा सकता हूँ जो बड़े पैमाने पर बनेगी। शायद रेलवे भी होगी, डाकघर, तारघर भी होगे। क्या होगा, क्या नही उसका मुझे पता नही। न उसकी मुझको फिकर है। असली बात को मैं कायम कर सकू तो आने की और रहने की खूबी रहेगी। और असली बात छोड़ देता हूँ तो सब छोड़ देता हूँ।

उस रोज जब हम आखिर के दिन वर्किंग कमेटी मे बैठे थे तो ऐसा कुछ फैसला हुआ था कि इस चीज को साफ करने के लिए वर्किंग कमेटी 2-3 दिन के लिए बैठेगी। बैठेगी तो मुझको अच्छा लगेगा, लेकिन न बैठे तब भी मैं चाहता हूँ कि हम दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह समझ ले। उसके दो सबब है। हमारा सम्बन्ध सिर्फ राज कारण का ही नही है। उससे कई दरजे गहरा है। उस गहराई का मेरे पास कोई नाप नही है। वह संबंध टूट भी नही सकता। इसलिए मैं चाहूँगा कि हम एक दूसरे को राज कारण मे भी भली-भांति समझें। दूसरा कारण यह है कि हम दोनों में से एक भी अपने को निकम्मा नहीं समझते हैं। हम दोनो हिन्दुस्तान की आजादी के लिए ही जिन्दा रहते हैं और उसी आजादी के लिए हमको मरना भी अच्छा लगेगा। हमे किसी की तारीफ की दरकार नहीं है। तारीफ हो या गालियां—एक ही चीज है। खिदमत में उसे कोई जगह ही नही है। अगरचे मैं 125 वर्ष तक सेवा करते-करते जिन्दा रहने की इच्छा करता हूँ तब भी मैं आखिर में बूढ़ा हूँ और तुम मुकाबले मे जवान हो। इसी कारण मैंने कहा है कि मेरे वारिस तुम हो। कम से कम उस

वारिस को मैं समझ लू और मैं क्या हूँ वह भी वारिस समझ ले तो अच्छा ही है और मुझे चैन रहेगा।

गाधी के इस पत्र को महज राजनीतिक महत्ता तक ही क्यों सीमित रखा गया? जबकि यह पत्र मात्र इतना ही महत्व नही रखता, अपितु इसकी समाजशास्त्रीय महत्ता भी है। यह पत्र भाषा के चुनाव से शुरू होकर भारत के भावी स्वरूप के बारे मे जो खुलासा करता है उसमे हमारा पर्यावरणीय सरोकार स्पष्ट रूप से झलकता है और एक जागतिक दृष्टि के दर्शन भी होते हैं।

आज आजादी के चार दशक पूरे हो चले। इन चार दशको में भारत ने उल्लेखनीय प्रगति की है, लेकिन वह भारत तो नही बन सका है जिसे गांधीजी के सपनो का भारत कहा जा सके। न सही 'गाधी के सपनों का भारत', वह भारत भी तो नही है जहा सामाजिक-सास्कृतिक दृष्टि मे समतामय परिस्थितिया हो और सबको समान रूप से जीने का हक मिल गया हो।

भारत की प्राकृतिक सम्पदा और उसकी विविधता समूचे विश्व मे बेजोड़ है, लेकिन उस सम्पदा से आम आदमी की सम्पन्नता नहीं जुड सकी। यह भी नही कह सकते कि भारत निर्धन देश है, लेकिन उसे धनी देश भी कैसे कहा जा सकता है जहा आज भी आधी आबादी भूखी सोती हो? रोटी, कपड़ा, स्वास्थ्य और पाव पसारने को, दो क्षण सुस्ताने को आश्रय—जिन्हें जीवन की बुनियादी जरूरत कहा जा सकता है—सबके लिए मुहैय्या नही है।

हम कह सकते हैं कि आजादी से पूर्व भी यह सब क्या था? और आजादी की लडाई का मुख्य आधार भी यही तो था कि अंग्रेजी हुकूमत भारत की विपुल सम्पदा का शोषण कर अपना ही पेट भर रही है। भारत को कंगाल बना वह अपनी सम्पन्नता, अपने ऐश्वर्य में इजाफा कर रही है। आजादी के बाद यह लूट अंग्रेजों के हाथो से छिन गई, पर आम आदमी को उसके हक नही लौटाए गए।

हमारी प्राकृतिक सम्पदा, उससे जुड़े अन्य ससाधन, हमारा सामाजिक चरित्र, हमारी सामाजिक चिन्ताएं-चेष्टाए जिस प्रकार से छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, फिर से संयोजित कहा हो सकी?

हमारे वन, चरागाह, जल स्रोत, नदी, तालाब, कुएँ, बावडिया आदि एक समय मे सामूहिक सम्पत्तिया रही है और इन पर सामाजिक नियंत्रण रहा है। हमारा समाज एक ऐसा समाज रहा है जिसकी मर्यादाएं, कर्त्तव्य और अधिकार

स्व-सन्तुलन पर आधारित रहे है। ब्रिटिश हुकूमत ने इन्हें तोड़ा ताकि गुलामी का शिकजा दीर्घकाल तक पूरी पकड़ के साथ मजबूती से कायम रह सके। पर यह सिलसिला आजादी के बाद भी समाप्त कहां हुआ ?

गांधीजी का 5 अक्टूबर 1945 का नेहरू के नाम पत्र इसीलिए यहां प्रासंगिक है। यह पत्र इसलिए भी आज अधिक प्रासंगिक है कि इस दिशा मे अब गहराई से सोचा जाने लगा है। देश में, समाज के हर तबके मे एक वर्ग फिर से अपनी परम्परा मे लौटने के लिए आन्दोलित है। देश के सभी क्षेत्रो मे ऐसे अनेक छोटे-मोटे सबल समूह अपने पर्यावरण, अपनी सस्कृति, अपनी परम्परा पर बात करने के लिए, सोचने के लिए और फिर से लौटने के लिए खड़े होने लगे हैं।

पर्यावरण का जो विनाश पिछले डेढ़-पौने दो सौ सालों में हुआ है उसे रोकने का कोई भी कारगर उपाय यही हो सकता है कि हम नीतिगत तौर पर यह मानें कि जो प्राकृतिक सम्पदा है उस पर किसी वर्ग अथवा किसी सत्ता का नही, समाज का हक है और अपनी प्रकृति से जुड़े लोग ही उसे ठीक तरह से सम्हाल सकते है, संवर्द्धन कर सकते है।

निश्चय ही यह ऐसी चुनौती है जो कार्य के स्तर पर कहने जैसी सहज नही है। आधुनिक विकास का लुभावना छल और दुनिया भर मे अपने निहित हितों-स्वार्थों के लिए खडा एक मजबूत वर्ग दुनिया भर की सरकारो को प्रभावित करने में सक्षम है। न केवल सरकारें, दुनिया भर में एक ऐसा बौद्धिक वर्ग, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीविद् भी इस मजबूत और शक्ति सम्पन्न वर्ग का पिछलग्गू बना हुआ है। इसीलिए ऐसे अनुसंधान और निष्कर्ष तीव्रता से प्रसारित-प्रचारित किये जाते हैं कि आम आदमी उसकी गिरिफ्त में आने से बमुश्किल ही बच पाता है। संचार और संवाद के उन्नत व विकसित साधनो का यह एक बेजा दुरुपयोग है जो परमाणु विकिरण की माफिक ही घातक असर छोड़ता जा रहा है।

लेकिन तब भी क्या ? महाविनाश की घंटियां कुछ ही कानों मे सही, पर दनदना रही हैं और एक प्रतिकारात्मक सशक्त आवाज अब उनके छल को निर्वसन करने में भी लगी है। दुनिया भर मे प्रौद्योगिकी के खतरे, न्यूक्लीय ऊर्जा से पैदा होने वाले विनाश और ऐसे अन्य कितने ही झंझावात, रासायनिक-तेजाबी वर्षा, वायु-जल प्रदूषण आदि मे लोग सचेत होने लगे हैं, इनके प्रतिकार मे खड़े होने लगे है। इन सबके जो हिमायती हैं उनसे भी अब जवाब मांगे जाने लगे है।

हम तुलनात्मक रूप से देखें तो प्रलय के ऐसे कगार पर भारत अभी नही पहुंचा है। भोपाल जैसी त्रासदी भारत के लिए खतरे का सायरन ही है और भारत के लोग समय रहते सचेत भी हो उठे हैं। केरल मे कोतमंगलम् के पास पेरियार नदी के किनारे दो हजार मेगावाट क्षमता वाले एक परमाणु बिजलीघर की स्थापना का वहा की जनता, धार्मिक और प्रबुद्ध लोगो ने तीव्र विरोध किया। प्रधानमंत्री को ज्ञापन भेजे गए। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने अपना इरादा बदल लिया। लेकिन तब भी पर्यावरण और परिवेशिकी के सरक्षण के लिए बुनियादी और कठोर निर्णय नही लिए जा सके।

पर्यावरण और परिवेशिकी पर हो रहे चौतरफा हमले, हमारी प्राकृतिक सम्पदा, हमारी सम-सामयिक स्थितियों का यहां सक्षेप मे जो विश्लेषण हुआ है उससे भी कहीं अधिक विस्तार से इस विषय पर कहा जा सकता है, लेकिन जो कुछ यहा कहा गया है वह खतरो के संकेत ठीक प्रकार से समझने के लिए निश्चय ही पर्याप्त है। फिर भी इन संकेतों की पुष्टि के लिए हमें कुछ तथ्यों को भी टटोलना चाहिए।

भारत को अपनी प्राकृतिक सम्पदा पर नाज रहा है। अब यह देखना जरूरी हो गया है कि क्या आज भी इस पर नाज किया जा सकता है? हमारी प्राकृतिक सम्पदा की जो दुर्दशा हो चुकी, उसके विस्तृत ब्यौरे मे हम यहां नही जायेंगे, पर हमारी चिन्ता वास्तव मे सही है, यह समझने के लिए कुछ जानकारियां हमे देखनी ही चाहिए।

आगे के पृष्ठो मे हम इन्ही जानकारियो को थोड़ा टटोलते हैं।

यह धरती

जो धारण करने का सामर्थ्य रख सके वही धरती या धरित्री है। लेकिन भारत की भूमि तो माँ वसुन्धरा है। क्या नही है इस धरती मे। विपुल और विविध खनिज, वनस्पतियां, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, जल और सबका कष्ट, शोक, रोग, ताप हर लेने वाली वात्सल्य भरी करुणामयी कोख जिससे यह देश धन-धान्य पूरित होता रहा है।

लेकिन आज इस धरती को चारों हाथ लूटा जा रहा है। जैसे यह मां वसुन्धरा नही किसी वहशी की निर्मम वासना पूरने की वस्तु भर हो। इसी वासना-लालसा ने इस धरती के पर्यावरण को बिगाड़ा है। इसी लूट के कारण इस देश की लगभग आठ हजार हेक्टेयर जमीन प्रतिवर्ष बीहड़ बनती जा रही है। इन बीहड़ों को फिर से सुधारने का क्रम तो बहुत ही धीमा है और बिगाड़ का सिलसिला थमा नही है। परिणाम साफ है कि सुधार का कोई असर बहुत शीघ्र दिखाई नहीं देने वाला। इन बीहड़ों के सुधार की गति ऐसी है कि सुधार क्रम के चलते-चलते ही बीहड़ दुगुने हो जायेंगे।

ये बीहड़ डाकुओं के आरामगाह बने रहे है। उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेश के बीहड़ डाकुओं के आश्रय स्थल रहे है। चम्बल घाटी नाम से कौन अपरिचित है जहां के दस्यु बागियो ने सन् 1972 मे लोकनायक जयप्रकाश नारायण के सामने आत्मसमर्पण किया था।

इन तीनों प्रदेशो के बीहड़ों से भी तीस लाख टन अनाज हर साल पैदा होता है। फल, लकड़ी, चारा और कई प्रकार के कच्चे माल भी प्राप्त होते है। तब भी यह अनुमान है कि इन बीहड़ों से देश को 157 करोड़ रुपये की हानि होती है।

इन बीहड़ो के सुधार की भी कई बड़ी-बड़ी योजनाएं बनी, पर ऐसा लगता है कि वे सभी किसी बीहड़ में ही दुबक कर रह गईं। इन योजनाओ के कोई नतीजे सामने नही आये, क्योकि अधिकांश योजनाएं कागजों तक ही सिकुड़ी रही। सन् 1971 में केन्द्र सरकार के गृह मत्रालय ने इन बीहड़ों के विकास की योजना पर्यावरण के लिहाज से भले नही बनाई हो, पर पर्यावरण से

अछूता कोई विषय हो ही कैसे सकता है ? गृह मंत्रालय की यह योजना डाकू उन्मूलन के उद्देश्य से बनी, पर हम जानते हैं कि पर्यावरण के कई पहलुओं से भी जुड़ी हुई है यह समस्या। सत्ताईस सालों में इस योजना पर 1,224 करोड़ रुपये व्यय होने वाले थे। पर यह योजना ही लागू नहीं हो सकी।

चम्बल घाटी विकास प्राधिकरण की ओर से चम्बल कमांड क्षेत्र में 11 हजार हेक्टेयर जमीन में वृक्ष आदि लगाने की योजना, 115 किलो मीटर के घेरे में मिट्टी के तटबन्ध बनाकर घास आदि लगाने के काम किये गये। लेकिन ये सभी काम समस्या के सामने अत्यल्प हैं।

ये बीहड़ आखिर बनते कैसे हैं ? इस धरती पर एक हरियल चादर बिछी रहनी चाहिये। यह चादर चाहे पेड़-पौधों और झाड़ियों के रूप में हो, चाहे घासों के रूप में। लेकिन धरती जब वनस्पति विहीन हो जाती है तो वहां वर्षा के साथ मिट्टी भी बह चलती है। इसी से दर्रे बनते हैं और आगे चलकर बीहड़ में बदल जाते हैं।

ऐसी ही कथा परती भूमि की है। जमीन बंजर क्यों होती चली जाती है ? हमारे देश में परती या बंजर भूमि कितनी है, इसका कोई पुख्ता आंकड़ा तो नहीं है, पर यह शायद 14 करोड़ 60 लाख हेक्टेयर है। दिल्ली की एक संस्था 'परती भूमि विकास समिति' मानती है कि देश में कोई दस करोड़ हेक्टेयर भूमि इस समस्या से जुड़ी है। रेतीले टीलों, अति नमी और भू-क्षरण के विभिन्न कारणों से जमीन बंजर बनती है। आंधियों से क्षतिग्रस्त होने वाला भू भाग एक करोड़ उन्नतीस लाख हेक्टेयर है। इसी तरह समुद्री तटों पर रेत के टीले 10 से 20 लाख हेक्टेयर के बीच हैं। पानी से भूमि कटाव, पानी का जमाव, दर्रे और झूम खेती से ग्रस्त जमीन 7 करोड़ 36 लाख हेक्टेयर है। यह अनुमान चाहे सर्वथा सही नहीं भी हो, पर भूमि के बंजर होते चले जाने का एक कारण सिंचित क्षेत्रों में कृषि का उचित प्रबन्ध नहीं होना भी है।

राजस्थान के नहरी क्षेत्रों में उचित प्रबन्ध के अभाव में जमीन के बंजर होने के किस्से नहरी भूमि का उपयोग करने के साथ ही सुनने में आने लगे हैं। लेकिन ये किस्से नहीं, हकीकत हैं। इंदिरा गांधी नहर परियोजना (राजस्थान नहर) के लूणकरनसर लिफ्ट सिंचाई क्षेत्र में नहरी पानी की सिंचाई से मूंगफली के रिकॉर्ड उत्पादन पर हम खुशी से झूम ही रहे थे कि इस क्षेत्र में सैकड़ों बीघा भूमि के बंजर हो जाने के तथ्य ने पर्यावरण और परिवेशिकी के प्रति सजग लोगों को चौंका दिया।

इस बात को अपने एक लेख में सबसे पहले जब इस लेखक ने उद्घाटित किया तो कृषि विशेषज्ञों को विश्वास नहीं हुआ। पर हकीकत पर पर्दा डाल भी तो

नहीं सकता कोई। लूणकरनसर लिफ्ट सिंचित क्षेत्र मे 19 जे. एम. डी , 294 आर. डी., 282 आर. डी , 276 आर डी., तथा कई अन्य क्षेत्रों मे जमीन क्षारीय हो गई या तीन से छः फुट की गहराई मे ही पानी आ गया। यहा के किसानों के अनुसार करीब 105 चको मे से तीस चको में यह समस्या विकट रूप मे पैदा हो गई है और लगभग दो सौ बीघा भूमि की उर्वरता नष्ट हो गई। इस क्षेत्र मे पहले कभी इतनी कम गहराई पर पानी नही था और सिंचाई से खेती नही होती थी। नहर आने के बाद 1974-75 से ही खेती होने लगी और छः साल में ही यह समस्या खड़ी हो गई।

जल और मिट्टी दोनों ही बहुमूल्य प्राकृतिक संसाधन है। इनसे हमारी भूमि यदि नष्ट होती है तो इसका कोई अन्य कारण नही, केवल हमारे पर्यावरण की समझ की कमी भर है। लूणकरनसर के जिस हिस्से मे यह समस्या बनी, वहा की जमीन में जिप्सम अत्यधिक मात्रा में है। भूमि के अन्दर की पर्त कम गहराई में ही चट्टानी है और इसलिए सिंचाई के पानी का रिसाव गहरे तल मे नही जाता। इसी कारण 5-7 फुट खोदते ही पानी आने लगा।

यह समस्या मिट्टी और भूमि के बारे में हमारी ठीक समझ नही होने के कारण पैदा हुई। यदि प्रकृति की खूबियों को बारीकी से देखें तो पायेंगे कि प्रकृति ने अपना सन्तुलन स्वयं बना रखा है। यह प्रकृति या पर्यावरण का ही सन्तुलन है कि यहां की मिट्टी अथवा भूमि अधिक पानी नही झेल सकती। इसीलिए प्रकृति ने यहां वर्षा का अनुपात कम दिया। हमने प्रकृति के इस विज्ञान और तकनीक को बिना समझे यहां की जमीन मे मूंगफली की उपज के लिए अधिक पानी दिया तो बिगाड़ होने लगा। यह घटना किसी बड़े बिगाड की शुरुआत है और हमें समय पर सचेत हो जाने का संकेत भी देती है।

जमीन और मिट्टी की सही समझ के अभाव मे अधिक या कम पानी का इस्तेमाल जैसे घातक होता है वैसे ही हरित क्रान्ति के नाम पर भूमि से अधिक पैदावार लेने के लिए बिना समझ के रासायनिक खादों का उपयोग भी घातक ही होता है। सघन सिंचाई और सघन खेती वाले ऐसे क्षेत्रों का अध्ययन यह बताता है कि वहां रासायनिक उर्वरकों से पैदावार तो एक बार बढ़ गई, पर यह स्थायी कभी नही रह सकी।

हरित क्रान्ति के नाम पर मिट्टी मे नैसर्गिक तौर से विद्यमान पोषक तत्व नष्ट होते चले जाने का दूसरा असर खाद्यान्नों की पौष्टिकता पर पड़ा। उनमे भी वे तत्व नही रहे जो अन्यथा मिलते रहे हैं। इससे आदमी और पशुओं के शरीर में प्रतिरोधक क्षमता का ह्रास हुआ और उससे विभिन्न प्रकार की

व्याधियाँ खड़ी होने लगी। चण्डीगढ़ के 'पोस्ट ग्रेज्यूएट इन्स्टीट्यूट' के अनुसंधान में जो निष्कर्ष सामने आये है वे बताते हैं कि हमारे आहार में जिंक की कमी शरीर की वृद्धि और लैंगिक विकास पर असर डालती है। घावों के भरने में भी इसी कारण कठिनाई होती है। मधुमेह से पीड़ित ऐसे रोगी जिन्हें अल्सर है, उनमें जिंक की कमी पायी गई है।

मिट्टी की उर्वरता को बढ़ाने के लिए अनेक किस्मों की खादें बाजार में धुआंधार प्रचार के साथ हमें देखने को मिल जाएंगी, लेकिन खेत मे काम करने वाला किसान उनका उपयोग करने से पहले यह कभी नही जान पाता कि मिट्टी मे इस समय किस तत्व की कमी है और जो खाद वह उपयोग मे ले रहा है उसमे वे तत्व कितनी मात्रा में है। इस नासमझी का नतीजा मिट्टी के जीवाणु तत्वों को नष्ट करने के रूप में ही सामने आता है। लगातार रासायनिक खादो का इस्तेमाल करते-करते मिट्टी भी एक प्रकार से नशीली हो जाती है और बार-बार उसे खाद देते रहना पड़ता है जिसका अन्ततः नतीजा घातक ही निकलता है।

रासायनिक खाद की जगह मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिए गोबर, भेड़-बकरी की मेंगनी, पेड़ों की पत्तियां आदि अधिक उपयोगी माने जाते रहे है। मिट्टी मे रहने वाले कितने ही कीड़े, जीव-जन्तु, पक्षी आदि मिट्टी के उपजाऊपन के मजबूत आधार रहे हैं। परिवर्तित फसल चक्र और मिश्रित खाद्यान्नों की खेती-बुआयी भारतीय कृषि परम्परा रही है। ये परम्पराएं व्यावसायिक कृषि के आते-आते समाप्त हो गई। मिट्टी के कीड़े, जीव-जन्तु, घासें, खरपतवार आदि तो खेत मे ट्रैक्टर के प्रवेश करते ही उसकी बलि चढ़ गए। मिट्टी के अपने पर्यावरण के प्रतिकूल हमने मिट्टी सुधारने के जितने भी उपाय किये, तात्कालिक सुधार के बाद अन्ततः बिगड़ी हालत की ओर ही अग्रसर होते गए।

भूमि को बंजर बनाते जाने मे खदानों में होने वाले खनन कार्य भी कम भागीदार नही है। खनिजो के खनन का हमारे पर्यावरण पर अनेक तरह से असर पड़ता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि खनिज आपूर्ति के लिए खनन तो करना ही पड़ेगा। ऐसे तर्कों के पीछे मशा क्या है यह देखना जरूरी है। किसी *बड़े विनाश के मूल्य पर या विलासिता की पूर्ति के नाम पर क्या यह सब* करने की छूट दी जा सकती है ?

आजादी के बाद देश के खनिज उत्पादनों में जो बढ़ोतरी हुई है उसे भी हमें ध्यान में रखना होगा। जो खनिज भूगर्भ में है वे कितने मूल्यवान है और इनके निर्माण मे जितना समय लगा है, उसी गति से क्या वे फिर निर्मित हो

रहे है ? यदि ऐसा नहीं है तो हमें उनके उत्खनन और उपभोग की एक सुसंगत नीति तय करनी ही चाहिए।

खनिज उत्पादन तो 70 करोड़ (सन् 1950 में) से बढ़कर 1981 में 3400 करोड़ का हो गया। लेकिन हमें यह भी देखना है कि ऐसा किस मूल्य के चुकारे के बदले हुआ है और देश के आम आदमी को इसमे क्या मिला है ? हमारे पर्यावरण और परिवेशिकी पर इसका क्या असर पड़ा है ?

उत्खनन का असर भूमि, वन, जल और वायु प्रदूषण सभी पर पड़ता है। इससे वहां के प्राणी जगत् पर जिसमें मनुष्य भी एक इकाई है—क्या असर पड़ता है ?

दून घाटी का नाम कौन नही जानता। देहरादून शिक्षा और शोध के महत्वपूर्ण केन्द्र के साथ-साथ आकर्षक पर्यटन केन्द्र भी है। बासमती चावल, चाय और लीची जैसे फलों की यहा पैदावार होती है। लेकिन आज यह घाटी खतरों की घटाओ से घिरी है। *यहां चूना पत्थर का बेरहमी से खनन हो रहा है।* इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ मेनेजमेंट, बंगलौर के प्रो. जयन्त बंद्योपाध्याय ने अपने एक अध्ययन से जो निष्कर्ष दिये है वे हमारे पर्यावरण के लिए कई दृष्टियों से घातक हैं और सचेत करने वाले है। खनन के कारण नदियो का पानी दूषित होने लगा है, वायुमंडल मे प्रदूषण बढा है, चरागाह नष्ट होने लगे है और पशुधन घटने लगा है।

इस खनन के विरुद्ध स्वयंसेवी संगठन निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं। न्यायालयो से भी कई आदेश खनन कार्य बन्द करने के जारी हुए है। देहरादून मे तो खनन कम हुआ है, पर घाटी के आन्तरिक भागों में वह बढ ही रहा है।

राजस्थान मे सीसा, जस्ता, टंगस्टन, एस्बेस्टस, फासफोराइट, खड़िया, ताबा, काओलिन और चूना आदि खनिजों के विपुल भण्डार है। जितना खनिज है और जिस तरह से वह खोदा जा रहा है उसमें कही भी इस बात का ध्यान नही रखा जा रहा कि खनन के बाद उस भूमि का क्या होगा ? खनन से वनो के विनाश, भू-क्षरण और अन्य समस्याओं के प्रति किसी भी प्रकार का नीतिगत निश्चय या योजना हमारे सामने नही है।

अलबत्ता कुछ अपवाद अवश्य हैं। गुजरात में बड़ौदा-बम्बई राजमार्ग के किनारे चीनी मिट्टी की खुदाई होती है। लगभग दो सौ एकड़ मे फैले उत्खनन से बने खड्डो को एक सुरम्य झील का रूप दे दिया गया है। यहां मछलियां छोडी गई हैं और हजारों पेड़ लगाए गए हैं। सभी पेड़ स्थानीय प्रजातियों के

है। पानी और पेड़-पौधों के कारण यह स्थल पक्षी विहार बन गया है। कोई नब्बे प्रकार के पक्षी यहां पाये जाते है।

विभिन्न तरह से हो रहे भूमि के विनाश का सर्वाधिक असर चरागाहों पर पड़ा है जो अन्ततः हमारे पशुधन को ही प्रभावित करता है। देश भर मे निरन्तर पड़ने वाले अकालों और सूखे ने भी चरागाहों की हालत को बदतर बनाया है। भारतीय ग्रामीण जन का जीवनाधार कृषि और पशुपालन ही है। कृषि भी चूंकि वर्षा पर निर्भर है अतः मुख्य आधार पशुपालन ही है। देश की कुल राष्ट्रीय आय मे से 6 प्रतिशत पशुपालन से होती है। यह तो सीधी आय हुई, अपरोक्ष रूप से पशुधन हमे कहां, क्या और कितना देता है यह अनुमान लगाना बहुत कठिन है।

यह विपुल पशुधन चरागाहों पर अवलम्बित है। लेकिन चरागाहों की हालत कैसी है ? देश में कुल आरक्षित चरागाह लगभग एक करोड़ तीस लाख हेक्टेयर है। एक तो ये हमारे पशुधन की संख्या को देखते हुए ही अपर्याप्त हैं और दूसरे ठीक हालत मे भी नही है। करीब 3 करोड़ 60 लाख हेक्टेयर जंगलों मे भी पशुधन का प्रवेश लगभग होता ही है। लेकिन चरागाहों के विकास की सुनिश्चित योजना बनाने की दिशा में कभी कोई ध्यान नही गया। इन चरागाहो की स्थिति प्रमुखतः वर्षा पर निर्भर रही है। हिमालय और समशीतोष्ण क्षेत्रों मे जहां उत्तम चरागाह है, वहीं राजस्थान मे वृक्षविहीन चरागाह ही मुख्य रूप से देखने को मिलते है।

जंगलों के प्रति हर स्तर पर हमारी बेरुखी रही है। यदि सामाजिक स्तर पर यह बेरुखी समाप्त हो जाये तो न केवल गंभीर अकालों में हम अपने पशुधन की रक्षा ही कर सकते है, रेगिस्तान के बढते फैलाव, अनावृष्टि और सूखे मे भी राहत पा सकते हैं।

चरागाहो की दृष्टि मे राजस्थान ऐसा प्रदेश है जहां इनकी निहायत जरूरत है। पशुधन की दृष्टि से राजस्थान देश मे तीसरे स्थान पर है। यहा के ग्रामांचल का मुख्य जीवनाधार पशुधन ही है। यहां कुल पशुधन 4,94,86,000 है। राज्य की कुल आय का बारह प्रतिशत पशुपालन मे प्राप्त होता है। दूध और ऊन उत्पादन मे यह प्रदेश देश में शीर्ष पर है।

राजस्थान में गोचर और ओरण की परम्परा सदियों से रही है। यहां की प्रकृति, जलवायु और जरूरत सभी के बीच गोचर और ओरण अनिवार्य और पवित्र स्थल माने गए हैं। पश्चिमी राजस्थान में गोधन और भेड़ें सर्वाधिक हैं। प्रकृति ने यहां ऐसी घासें, पेड़-पौधे और झाड़ियां दी जो इस पशुधन के

लिए उत्तम चारे का प्रबन्ध कर सके। खेजड़ी और बेरी जैसे पेड़-झाड़ियां कम वर्षा और अधिक गर्मी को झेल सकते हैं। इनकी पत्तियां इन पशुओं का श्रेष्ठ भोजन है। सेवण और धामण घास को भी कम वर्षा और अधिक तापमान अनुकूल हैं। ये घासें भी पशुओं का अच्छा भोजन हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार 'थार का पर्यावरण' जिस तरह की वनस्पति, पशुधन और जलवायु मे बनता है, उन सब के बीच एक सहज सन्तुलन हमें देखने को मिलता है।

यह तो एक बात हुई। वास्तव में इस समय स्थिति भिन्न है। गोचर-ओरण के प्रति राजस्थान में निहायत उपेक्षा का भाव है। सेवण-धामण घास, खेजड़ी-बेरी अथवा थार की वनस्पतियों के संरक्षण के प्रति किसी प्रकार की सक्रियता नही है। थार अचल में नहर का पानी आने के बाद तो इस दिशा मे और भी ज्यादा बिगाड हुआ है। थार की वनस्पतियो की जगह विदेशी किस्म के पेडो ने ले ली है। सफेदा (यूकेलिप्टस), इजरायली बबूल, सुबबूल और कुछ ऐसी ही प्रजातियां जो न यहां की जलवायु और न यहां के लोगों, पशु-पक्षियो के लिए उपयोगी है, भारी मात्रा मे लगाये गए है। इन पेडो ने थार के पर्यावरण को पहले से अधिक बिगाड़ा है। इस बिगाड़ मे ट्रेक्टरों, रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का भी कम योगदान नही है।

थार की भूमि और यहां की मिट्टी इनके लिए कितनी उपयुक्त है और कितनी अनुपयुक्त—इसकी जांच पडताल ठीक तरह से कभी हुई ही नही है और यदि हुई है तो उसकी अब तक अनदेखी ही की गई है। परिणाम साफ है—नहर आने के बाद भी उसके अब से बेहतर लाभ नही मिल पाये।

पिछले चार-पांच सालों के अकालों और सन् 1988 के भीषण अकाल में भी नहर किसी भी प्रकार से सहारा नही बन सकी। मुश्किल मे भी यदि सहारा न बन सके तो अच्छे समय में कोई चीज कितनी ही लाभकर क्यों न हो, उसकी कोई पृथक पहिचान या महत्ता नही आंकी जा सकती।

निराशा की इस अवस्था मे भी आशा की एक किरण फिर भी उभरी नजर आती है। बीकानेर के निकट एक गाव है भीनासर। इस गाव मे सन् 1984 मे गोचर-चरागाह और पर्यावरण के लिए एक आन्दोलन चल रहा है। 'गोचर चरागाह विकास और पर्यावरण चेतना भीनासर आन्दोलन' नाम है इस आन्दोलन का। लेकिन लोकप्रिय नाम तो 'भीनासर आन्दोलन' है। भीनासर गांव में करीब पांच हजार बीघा जमीन गोचर चरागाह के रूप मे आरक्षित हैं। चरागाहो के विकास के लिए इस आन्दोलन के माध्यम से जो प्रयोग हो रहे है उसने सभी वर्गों के लोगों का ध्यान खीचा है। विशेषज्ञों, प्रशासकों और

सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का भी। थोड़ा पानी भी मिल जाये तो कैसे गोचर को हरा-भरा रखा जा सकता है, ये ही हैं 'भीनासर आन्दोलन' के प्रयोग। जन भागीदारी और स्पष्ट दृष्टि से हर कार्य सहज हो सकता है यह 'भीनासर आन्दोलन' ने बतला दिया है।

ऐसे प्रयोग गांव-गांव में किये जा सकते हैं। स्थानीय स्तर पर इस प्रकार की योजनाएं बनाने और वहीं के लोगों को जोड़ने से कहीं भी 'भीनासर आन्दोलन' के प्रयोग दोहराये जा सकते हैं। यह अकाल से निजात पाने का एक स्थायी विकल्प बन सकता है।

इस तरह हमने देखा कि जिसे हमने मां वसुन्धरा माना उसे भी लुटेरे हाथों से हम नहीं बचा सके। लेकिन हमने यह भी देखा कि अब देश भर में भूमि संवर्द्धन के लिए आवाजें उठने लगी हैं। जहां भी कहीं भूमि के विनाश की बात और उसके कारण पर्यावरण पर बुरे असर पड़ने की बात सामने आई है कुछ समूह रचनात्मक प्रतिरोध से उठ खड़े हुए हैं। यह एक शुभ संकेत है और पर्यावरण के प्रति देश में बढ़ती चेतना का द्योतक भी है।

जल—जीवन भी है

जल प्रकृति की अलभ्य सम्पदा है। भारत उन सम्पन्न देशों में है जहां जल विपुल मात्रा में उपलब्ध है, लेकिन कठिनाई यह है कि सभी जगहों पर यह सुलभ नहीं है। थार मरुस्थल के क्षेत्रों में मीलों तक जल स्रोत नहीं मिलते। एक आदमी की तो पूरी जिन्दगी ही मात्र पीने योग्य पानी जुटाने में ही चली जाती है—ऐसे भी कई गांव हैं राजस्थान के मरुस्थलीय जिलों में।

जल में जीवन है। ऐसी मधुरिमा, शीतलता और ताजगी कि थके-हारे प्राणी को भी एक बार स्फूर्ति से भर देता है जल। जल केवल जल ही नहीं है। यह आबरू भी है। 'रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून/पानी गए न ऊबरे मोती, मानस, चून'। जो आब जल में है वह किसी और में कहां।

जहां जल नहीं है वहां प्राण भी नहीं है। जलहीन क्षेत्र निर्जन ही मिलेंगे। जंगल में भी कहीं जल का स्रोत यदि होगा तो वहां जीवन होगा ही। पशु-पक्षी, मनुष्य या वनस्पति सभी को जल तो चाहिए ही। जल के बिना इनमें से किसी में भी जीवन रह नहीं सकता।

मतलब यह कि जल प्रकृति की एक अनुपम भेंट है प्राणी-जगत् को। लेकिन इस अनुपम भेंट को भी क्या हम सहेज कर रख पा रहे हैं? जल प्रदूषण की विकट समस्या से लेकर जल के इस्तेमाल तक में मनुष्य समाज क्रूर होता जा रहा है। कभी जल को पवित्र और पूजनीय समझा जाता था, उसके प्रति करुणा और ममता का भाव हममें गहरे तक था। जल की एक-एक बून्द के प्रति श्रद्धा और संवेदना का रिश्ता था। वह सब अब बिखर गया। आज तो जल का उपयोग जिस निर्मम भाव से आधुनिक मानव समाज करता है उसे देख यह लगता है कि यदि ऐसा ही होता रहा तो बहुत जल्दी हम इस अनुपम भेंट से हाथ धो बैठेंगे।

जैसा कि हम मानते हैं कि पानी के मामले में भारत भाग्यशाली देश है। कैसे? एक तो हिमालय ही सबसे बड़ा जल भण्डार है भारत के पास। औसत वर्षा का अनुपात भी यहां सन्तोषजनक है। भारत की औसत वर्षा 1,170 मि मी

है। हमारे उत्तर-पूर्वी अंचल में यसे चेरापूंजी में वर्षा 11,400 मिलीमीटर है तो धुर थार मरुस्थल के जिले जैसलमेर, बीकानेर में न्यूनतम 200मिलीमीटर वर्षा का अनुपात है। भारत को वर्षा से 40 करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी मिलता है। पर हम इसे सहेज कर कितना रख पाते हैं?

भू जल स्रोत भी भारत के पास हैं। बहुत पक्के आंकड़े तो नहीं, पर अनुमानतः तीन अरब सत्तर करोड़ हेक्टेयर मीटर पानी भूगर्भ में लगभग तीन सौ मीटर गहरी सतह में उपलब्ध है। भू जल का जिस तेजी से हमारा समाज उपयोग कर रहा है, उसी तेजी से भूगर्भ के पानी का खजाना फिर भर नहीं रहा। स्वाभाविक है कि इस दिशा में यदि ठीक तरह से नहीं सोचा गया और पानी के उपभोग पर यथोचित नियंत्रण नहीं रखा गया तो यह अमूल्य स्रोत शीघ्र हमारे हाथों से निकल जायेगा।

पानी का उपयोग पेयजल या अन्य घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो अधिक नहीं होता। जितना पानी देश में खपता है उसका 92 प्रतिशत सिंचाई के कामों में लगता है। मात्र आठ प्रतिशत पानी ही घरेलू कामों में इस्तेमाल होता है।

नलकूपों के जरिये भूतल से निकाला जाने वाला पानी भी मुख्यतः सिंचाई के काम ही आता है। देश में 2,58,000 हेक्टेयर जमीन की सिंचाई सन् 1961 तक नलकूपों के जरिये होती थी जो सन् 1974 में बढ़कर 55 लाख 60 हजार हेक्टेयर हो गई। इस तरह भूमिगत जल से खेतों की सिंचाई की बढ़ती रफ्तार को समय रहते नियंत्रित करना अत्यन्त जरूरी है।

यह तो एक खतरा है ही कि भू जल का स्तर कम हो रहा है। इससे एक दूसरी विसंगति भी खड़ी होती है जो सामाजिक-आर्थिक स्तर पर असन्तुलन भी पैदा करती है। इस विसंगति से बचना तो निहायत जरूरी है। कुओं का जल स्तर जब गिरता है तो उसकी मार साधारण किसान पर या सामुदायिक कुओं पर ही अधिक प्रभावी होती है। सम्पन्न किसान तो अपने कुए का जल स्तर गिरने पर उसे और गहरा कर लेते हैं, पर सामान्य व्यक्ति के लिए अथवा सामुदायिक कुओं को गहरा करने के लिए मुक्कमिल प्रबन्ध हो पाने कठिन होते हैं।

पर्यावरण की दृष्टि से कुओं के गिरते जल स्तर का प्रभाव अन्ततः बहु आयामी होता है और उसके उपाय न करना घातक बन जाता है।

वर्षा का पानी संचित करना और उसका खेती तथा अन्य विभिन्न कार्यों में उपयोग करने की परम्परा भारत में बहुत समृद्ध रही है। पूरे देश में करीब

दो लाख हेक्टेयर भूमि में तालाब और झीलें रही हैं। दक्षिण भारत में तो तालाबों से सिंचाई की अत्यन्त विकसित परम्परा रही है। मद्रास प्रेसीडेन्सी के समूचे क्षेत्र में करीब 53 हजार तालाब रहे हैं। यह तथ्य सन् 1856 में हुए एक अध्ययन मे प्रकाश में आया है। सन्1958-59 तक पूरे देश में कुल सिंचित रकबे मे से इक्कीस प्रतिशत भू भाग पर तालाबों से सिंचाई होती थी, पर 1978-79 तक आते-आते यह घटकर दस प्रतिशत रह गई।

तालावों मे वर्षा के पानी का संग्रहण और उसका सेती के लिए उपयोग गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडु आदि कई प्रदेशों में बहुत विकसित रूप में रहा है।

यह माना जाता रहा है कि तालाबों मे सिंचाई करना अधिक लाभदायक, कम खर्चीला और उत्पादन की दृष्टि से भी बहुत सन्तोषजनक है। नहर और बड़ी सिंचाई योजनाओ मे एक हेक्टेयर पर सिंचाई की लागत चालीस हजार रुपये बैठती है। तालावों को बांधने मे प्रति हेक्टेयर लागत का अनुमान करीब पांच हजार रुपये बैठता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि नहरो का रख-रखाव, सिंचाई के पानी का वितरण आदि जहां काफी जटिल और विवाद-पूर्ण रहता है वही तालावो मे यह कार्य विकेन्द्रित और स्थानीय स्तर पर सहजता से हो सकता है।

जल प्रबन्ध की ऐसी समुचित और बेहतर तकनीक जो हमारे देश मे इतनी विकसित थी, आज अन्तिम सांसें गिन रही है। अंग्रेजी शासकों ने तो इस तकनीक को पूरी तरह से उखाड डालने का काम भारतीय लोगों के स्वावलम्बन को नष्ट करने के लिए किया था, पर स्वाधीनता के बाद भी यह सिलसिला क्यों जारी रहा?

एक महत्वपूर्ण जल स्रोत जो हमारी अपनी परम्परा और पर्यावरण का महत्व-पूर्ण हिस्सा रहा है—वह तो इस तरह समाप्त हुआ, दूसरी ओर नदी जल का प्रदूषण बराबर बढ़ता ही रहा।

हमारे औद्योगिक विकास और प्रौद्योगिकी ने देश के आम आदमी को क्या दिया तथा उसका जीवन स्तर, माली हालत कितनी सुखमय हुई—यह जिस तरह किसी से छिपी बात नही है उसी तरह औद्योगिक अपशेषों से नदियों को प्रदूषित करने की घटनाएं भी किसी से छिपी नही है।

कर्नाटक राज्य के धारवाड जिले का एक शहर है हरिहर। यहा रेयन बनाने का एक कारखाना है। इस रेयन के लिए पॉली फाइबर बनाने का भी एक कारखाना है। ये दोनों कारखाने प्रतिदिन 45 हजार घन मीटर गन्दा पानी

छोड़ते हैं। यह पानी तुगभद्रा नदी में जाकर गिरता है। कारखानेदारों का तो कहना है कि नदी मे गिराने से पहले पानी को साफ किया जाता है, पर ऐसा होता तो वहा के लोगों का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता नही जाता। फसलो पर भी प्रतिकूल असर नही पडता।

ऐसी ही बात तमिलनाडु के आर्काट जिले की है। यहां चमड़ा शोधन के कोई 250 कारखानो से बह कर जाने वाला पानी साग और चर्म रोग बढ़ाता है।

एक अध्ययन के अनुसार आर्काट, वेल्लोर, रानीपेट, वाणिय वाडी, विशारम, निमिर और आंबूर शहरों की करीब दस हजार एकड़ जमीन इसके कारण नष्ट हो चली है।

प्रदूषण का यह संकट नदी जल तक ही सीमित नही है। यह खतरा भू जल को भी लील रहा है। यह सही है कि भू जल में बाहरी प्रदूषण की सम्भावनाएं बहुत कम रहती है, लेकिन अपने ही निहित स्वार्थों में लिप्त रहने के दुष्परिणाम हमेशा दूसरो को ही झेलने पड़ते है।

राजस्थान के पाली, बालोतरा मे कपड़ों की रंगाई-छपाई के उद्योग ने यहा के लोगो का जीवन पूरी तरह से बदरंग कर डाला है। पाली और बालोतरा में कोई 1500 रगाई-छपाई के छोटे-बड़े उद्यम स्थापित है जो रोज एक करोड पाच लाख लीटर पानी दूसरो के भाग्यों को यहा ले जाने के लिए छोड़ते है। यह पानी भूमि मे रिसाव से इन स्थानों के कुओ, तालावों या अन्य जल स्रोतो मे जा मिलता है। इससे कैंसर फैलने का खतरा पैदा हो गया है। इसका असर यहा की खेती पर भी पडने लगा है।

जल प्रदूषण का असर कहां नही है? कर्नाटक मे कारवार शहर मे समुद्र तट पर बसा है एक गाव बिनगा। यहा के मछुआरे भी दुखी है क्योकि यहा की कास्टिक सोडा फैक्टरी का दूषित पानी समुद्र में छोडा जाता है और उससे भारी तादाद मे मछलिया मरने लगी है। मछुआरों का धधा चौपट होने लगा। यही किस्सा बिहार मे भागलपुर से गुजरने वाली गंगा का है। यहा भी कारखाने अपने अपशेष गगा मे छोडते है जो मछलियो की जान पर बन आता है।

जल से ही जुड़े है बांध। आजादी के बाद बांधो के निर्माण का सिलसिला तेजी से शुरू हुआ और इन्हे स्वतंत्र भारत के नये देवालय बताया गया। ये बांध सिंचाई और बिजली दोनों के लिए बनाने जरूरी समझे गए। इन दोनों की आपूर्ति इन बांधो से कितनी हो सकी और देश के पर्यावरण पर इसका क्या

असर पड़ा, अब इन पर कितने ही अध्ययन और उनके निष्कर्ष सामने आ गए हैं और उससे सबक लेकर हम अपने भविष्य का मार्ग तय कर सकते हैं। पर लगता है अभी कुछ और खोना, कोई बड़ी कीमत चुकाना बाकी है।

हमारी जितनी प्रमुख नदियां हैं उन सभी पर या तो बांध बन चुके अथवा बन रहे हैं। ज्यों-ज्यों बांध बनाने का क्रम तेजी पकड़ता गया त्यों-त्यों देश भर में यत्र-तत्र सक्रिय पर्यावरणवादियों ने इनके हानि-लाभ के तलपट बनाने भी शुरू कर दिये।

बांधों का सीधा असर वनों और वनोपज पर आश्रित स्थानीय जनों पर पड़ता है। जहां भी कहीं बांध बने हैं लोग बेघर हुए हैं, बेरोजगार हुए हैं। उन्हें विस्थापित करने या रोजगार देने की योजनाएं तो बेशक बनी है, लेकिन वे योजनाएँ उनको कितनी राहत दे पायी, पीछे घूम कर यह किसी ने नहीं देखा। बांधों के कारण विस्थापित हुए लोगों के पुनर्वास पर जो भी अध्ययन हुए हैं उनसे पता चलता है कि संकट घटे नहीं, समस्याओं से मुक्ति मिली नहीं।

भाखड़ा बांध बनने के कारण कोई दो हजार एक सौ परिवार उजड़े, पर बसे 730 ही। पोंग बांध के विस्थापितों की कथा तो और भी मर्मान्तिक है। करीब सोलह हजार परिवार बेघर हुए, पर फिर से घर बसाने के लिए राजस्थान में जिन्हें जमीन मिली वे मात्र नौ हजार ही थे। इसमें भी निर्धन और अनपढ़ लोग और जिनकी पहुँच नहीं थी वे लोग अधिक घाटे में रहे। जिनको राजस्थान में जमीन दी गई वे भी सुखी नहीं रह सके। पहाड़ी आबो-हवा में रहे लोगों के लिए धुर रेगिस्तानी जलवायु कैसे अनुकूल पड़ता। पहाड़ी खेती और रेगिस्तान में खेती का अन्तर समझने में न मालूम उन्हें कितनी उम्र लगे।

गुजरात में उकाई बांध से प्रभावित 18,500 परिवारों में से 3500 परिवार ही बसाये जा सके।

एक तरफ बांधों के निर्माण की दुखान्तिका यह है तो दूसरी ओर इन बांधों से मिलने वाला पानी-बिजली कहां-कहां चिराग जलाते हैं, यह भी देखना चाहिए।

रिहंद विद्युत परियोजना से उत्तरप्रदेश और बिहार की पच्चीस लाख एकड़ भूमि सिंचित होगी और तीन लाख किलोवाट बिजली पैदा होगी। पर यह बिजली मिलेगी किसे? डेढ लाख किलोवाट एक अल्युमिनयम कारखाने को,

पचास हजार किलोवाट मुगलसराय-हावड़ा रेल चलाने को और पचास हजार किलोवाट एक और कारखाने को। इस परियोजना से 46 हजार लोग और एक सौ छ गाव उजड गए। सच ही कहा है कवि दुष्यन्त कुमार ने—

'कहा तो तय था चिरागाँ हर एक घर के लिए,
कहां चिराग मयस्सर नही शहर के लिए।'

इन बाधो और नहरो से पैदा होने वाले हालात का दूसरा फलक भी देखें।

नहर से सिंचाई और उससे होने वाले खाद्यान्न उत्पादन तथा पर्यावरण पर पड़ने वाले असर पर भूतपूर्व कृषि आयुक्त और हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ डी.आर. भूंबला मानते है कि बांधों और नहरों से खेती का लाभ दीर्घकाल तक ले पाना नामुमकिन है। उनका अध्ययन बताता है कि सूखे क्षेत्रो मे दस-बीस सालो मे पानी का रिसाव और मिट्टी में खार बन आने का अंदेशा रहता है। नमी वाले इलाको मे तो नहर के लाभ शुरू से ही सन्देहास्पद रहते है। नमी वाले क्षेत्रो में बड़े या मंझोले बांध मिट्टी और पर्यावरण के लिए उपयुक्त नही है। वहा पैदावार भी घटने की संभावना रहती है।

डॉ. भूबला के इन निष्कर्षों पर हमारा ध्यान क्यों नही जा रहा, पर हम देख रहे है कि भाखडा नहर क्षेत्र में भू जल का स्तर प्रतिवर्ष एक मीटर की गति से ऊपर आ रहा है। चार लाख हेक्टेयर खेतों मे पानी तीन मीटर गहराई तक आ गया है। जमीन मे क्षार की समस्या खड़ी हो गई। भू जल भी खारा होता जा रहा है।

राजस्थान नहर (इंदिरा गाधी नहर परियोजना) को ही लें। अब तक इतना तो मान लिया गया है (दबी जुबान) कि कुल सात हजार वर्ग किलोमीटर सिंचित क्षेत्र मे से पांच सौ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र जल रिसाव का शिकार हो चुका है और यह गति बराबर बढ़ रही है। सोचा गया था कि करीब दो सौ साल तक भू तल में पानी के जमाव की समस्या यहां खड़ी नही होगी, लेकिन भूमि के अन्दर बहुत कम गहराई मे ही कठोर पर्त आ जाने से यह खतरा कुछ ही वर्षों में सिर पर मंडराने लगेगा।

मध्यप्रदेश की तवा बांध को लें। सन् 1975 मे यह बांध बन कर तैयार हो गया, लेकिन मिट्टी की यथोचित जांच के अभाव मे खेतो मे भूतल मे पानी जमा होने लगा। इसे उलीचने के लिए सात सौ नलकूप लग रहे हैं जो जमा पानी को उलीचेंगे। इस बाध और पानी के जमाव के कारण होशगाबाद मे 'मिट्टी बचाओ' अभियान शुरू हुआ।

यही एक खतरा नही है । रेगिस्तान में खेती पर्यावरण के लिए अन्य कई कारणों से भी घातक होगी और हो भी रही है । सदियों से चले आ रहे परम्परागत चरागाह समाप्त होंगे । वे खेतो मे बदल जायेंगे । इससे पशुपालन पर प्रतिकूल असर पड़ेगा । हर एक पशुपालक को तो सिंचित क्षेत्र में भूमि मिल नही सकेगी । तब उसका निर्वाह कैसे होगा ? चरागाह नही रहेंगे तो वे कहां जायेंगे ?

अभी भी जिन लोगों को सिंचित क्षेत्र मे भूखण्ड आवटित हुए है उनमे से आधे से अधिक स्थानीय लोग न होकर दूसरे इलाकों के है । पीढ़ियों से जिन लोगों के पास भूमि रही है उनमें से भी बहुत से अब भूमिहीन हो गए हैं, क्योंकि उनकी जमीन सिंचित क्षेत्र में आ गई है और कानूनी दांव-पेचों मे वे जमीन पाने के हकदार नही हैं ।

पैदावार के प्रश्न पर भी डॉ. भूंबला का मत है कि सिंचाई से अच्छी पैदावार लेना सन्देहास्पद ही है । विहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा मे कोई पच्चीस लाख हेक्टेयर भूमि पर सिंचाई से खेती होती है । यहां मुख्य पैदावार धान की है जो प्रति हेक्टेयर एक टन से भी कम है । उत्तरप्रदेश मे नमी के कारण दूसरा सिंचाई संभव नही होने से अक्सर गेहूं की फसल से हाथ धोना पड़ता है ।

डॉ. भूवला मानते है कि विगत बीस सालों मे खाद्यान्न उत्पादन में उत्तरोतर वृद्धि नहरी सिंचाई से न होकर नलकूपो से सिंचाई किये जाने से हुई है ।

आखिर बड़े बांधो से हमें मिलता क्या है ? गांव-गांव में जब तालाबो से सिंचाई की प्रणाली थी तो वे खतरे भी नही थे जो इन बाँधो से सामने आ रहे हैं और लोग भी अधिक स्वावलम्बी थे । ऐसी उत्तम परम्परा को छोड़ने का कोई कारण भी तो प्रतीत नही होता । बड़े भीमकाय बांध और नहरें भारत जैसे देश के लिए इसलिए भी अनुपयुक्त हैं कि यहां के लोग, यहां की मिट्टी और यहा के पर्यावरण, यहां की परम्परा के साथ इन बाँधो का किसी प्रकार का सरस रिश्ता बन ही नही पा रहा है ।

अपनी परिवेशिकी और पर्यावरण के प्रति देश के कुछ सजग लोग इसीलिए अब इन बाँधों और नहरों के प्रतिरोध में खड़े भी होने लगे है ।

विष्णु प्रयाग पन-बिजली परियोजना विख्यात फूलो की घाटी और पहाड़ के ऐसे संवेदनशील क्षेत्र में बनने वाला था कि बन जाता तो यहा के लिए बड़ा घातक सिद्ध होता । चिपको आन्दोलन के नेता श्री चण्डीप्रसाद भट्ट ने इस ओर समाज को सचेत किया । एशिया भर में सबसे ऊंचाई पर बनने वाले इस

बांध से भूस्खलन के बड़े खतरे पैदा होते। जंगल के लगातार कटते रहने से अलकनन्दा नदी में सन् 1970 में आई बाढ़ और विनाश के घाव भरे नहीं थे। इसीलिए फिर से अलकनन्दा के बहाव को रोक कर बांध बनाने की लुभावनी योजना के मूल खतरों को ठीक-ठीक समझने में श्री चण्डीप्रसाद भट्ट को अधिक कठिनाई नहीं हुई। योजना आयोग से दो सौ छियासठ करोड़ रुपये की मंजूर शुदा यह योजना रोक दी गई। लेकिन मामला अभी भी समाप्त नहीं हुआ है शायद।

दक्षिण में सैरन्ध्री घाटी पन-बिजली परियोजना को भी इसलिए छोड़ना पड़ा कि देश भर में पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों पर चर्चा छिड़ गई और यह समझा गया कि योजना की बनिस्बत पर्यावरण का प्रसंग अधिक सशक्त है।

महाराष्ट्र के गढ चिरौली मे वनवासियों का हुजूम अप्रेल 1984 में इसलिए एकजुट होकर जा डटा कि इचमपल्ली और भूपालपतनम बांध उनके अस्तित्व पर हमला था। इन दोनो परियोजनाओं से 1,72,000 हेक्टेयर जंगल डूब में आ जाते और करीब 75 हजार लोग विस्थापित होते। इन वनवासियों का साथ बाबा आमटे, चिपको नेता श्री सुन्दरलाल बहुगुणा और वनवासी नेता श्री लालश्याम शाह ने भी दिया। ये परियोजनाएं रद्द हुईं।

ये उदाहरण यह समझने के लिए पर्याप्त है कि जहां कहीं भी ऐसे 'आधुनिक मंदिर' उस क्षेत्र को मरघट में बदलने वाले साबित हुए और वहां के लोग समय रहते खड़े हो गये तो अन्तत. वहां ये योजनाएं स्थगित ही की गईं। इससे यह तो समझ ही सकते है कि पर्यावरण के प्रति अब सभी क्षेत्रों में संवेदनशील नजरिया बन रहा है। यद्यपि यह सच है कि अभी भी तीव्र और अविराम संघर्ष की संभावनाएं वैसी ही है। वे कम नहीं हुई है क्योंकि विज्ञान और प्रौद्योगिकी और 'विशाल योजनाओं' का जुआ अभी हमारे सिर से हटा नहीं है।

अन्यथा लघु और लघुतम काम अधिक स्थायी, बेहतर और अधिक हितकर हो सकते हैं—यह समझ पाना अधिक दुरूह नहीं है।

ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जहां छोटी-छोटी इकाइयां अधिक लाभकर सिद्ध हुई हैं। तालाबों के जरिये सिंचाई के तो हमने कई उदाहरण देखे ही है, विद्युत उत्पादन के भी कई उदाहरण हमारे सामने हैं।

पहाड़ी क्षेत्रों में बिजली उत्पादन की छोटी-छोटी इकाइयों का उद्भव हमारे देश में बहुत पुराना है। दार्जिलिंग में सन् 1887 में ही एक छोटा

220 किलोवाट का पन-बिजलीघर लग गया था। पहाड़ी क्षेत्रों में ऐसे कितने ही स्थान हो सकते हैं जहा बिजली पैदा कर हमारे देहातों को सप्लाई की जा सकती है।

चीन मे इस प्रकार के 88 हजार छोटे पन-बिजलीघर है जो 6929 मेगावाट बिजली पैदा करते है।

उत्तरप्रदेश, हिमाचल, जम्मू-कश्मीर, अरुणाचल प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और सिक्किम में सन् 1980 मे ऐसे छोटे बिजलीघर बने भी थे, पर अभी तक यह पता नही लगाया जा सका कि वृहद स्तर पर इसे कहां तक हाथ मे लिया जा सकता है।

चीन में छोटे बिजलीघरों पर लोग अपनी ओर से भी धन लगाते हैं, बैंको से भी कर्जा मिलता है। सरकार भी सहयोग करती है।

ऐसा मानते हैं कि छोटे बिजली संयंत्र कम उत्पादकता वाले और अधिक खर्चीले होते है। पर यह मानने का पुख्ता आधार किसी के पास नहीं है। यदि यह मान भी लें कि ऐसा अनुमान सही है तब भी यह तो मानना ही होगा कि कोई भी विकेन्द्रित व्यवस्था सदैव आम जन के हित में ही होती हैं।

देश में कतिपय स्वयंसेवी संगठन छोटे पन-बिजलीघर लगाने के लिए आगे आये हैं। चमोली (उ. प्र.) के जाखेश्वर शिक्षण संस्थान ने एक छोटा संयंत्र लगाया है। 65 हजार रुपये लागत का यह संयंत्र दस किलोवाट क्षमता का है। टिहरी में लोक जीवन विकास भारती संस्था भी बूढा-केदार के पास एक छोटा संयंत्र लगा रही है। गढ़वाल विश्वविद्यालय भी इस ओर अग्रसर है।

इस तरह जल के बहुआयामी उपयोग हमने देखे। बिजली पैदा करने से लेकर अन्न और वनस्पति के उत्पादन तक में जल की सर्वाधिक अहम भूमिका है। और सबसे बड़ा योगदान है प्यास बुझा कर प्राण संचरण का। यह प्राण 'संचरण' जल मिट्टी में भी करता है, मनुष्य मे भी और पशु-पक्षी में भी।

इतना सब होते हुए और यह सब समझते हुए भी हमारे पास कोई समग्र जल नीति नहीं है। सबसे बड़ी जीवन सम्पदा होते हुए भी जल के प्रति हमारी चिन्ताएं अति साधारण और सतही सी रही है। देश की विपुल जल-सम्पदा के समुचित उपयोग के लिए एक सर्वव्यापी राष्ट्रीय जल नीति होना जरूरी है, लेकिन हम देखते है कि अब तक जल विवादों का निपटारा तात्कालिक स्तर पर ही होता रहा है। रावी-व्यास और सतलज के पानी के बंटवारे का विवाद इसका प्रमाण है। स्पष्ट जल नीति के अभाव में दो प्रान्तों के बीच

नदी–जल बंटवारे के विवाद कभी हल होते ही नहीं । नये-नये पेंच डाले जाते रहे हैं और सरकारें उन्हीं पेंचों को कसने–ढीला करने में लगी रहती है ।

जल नीति तो हमारी नहीं है, पर जल प्रदूषण निवारण के लिए अवश्य कानून बना हुआ है । भारत के स्वास्थ्य मंत्रालय की ओर से जल प्रदूषण के अध्ययन के लिए 1962 में एक विशेषज्ञ समिति बनाई गई । इसकी सिफारिशों और कई और दौर से गुजरते-गुजरते 1974 में जल प्रदूषण निवारक विधेयक बना । प्रदूषण, जल-मल कचरा, कारखानों का कचरा आदि से होने वाले प्रदूषण से बचने के लिए इस विधेयक में प्रावधान किये गए । विधेयक में केन्द्रीय व राज्य बोर्डों के गठन का प्रावधान भी है । इन बोर्डों के अधिकारों और कार्य क्षेत्र का खुलासा भी विधेयक में किया गया । धन के प्रावधान के लिए 'उप कर' लगाने पर भी 1977 में जल उप कर (प्रदूषण रोकथाम) कानून बनाया गया ।

यह सब हुआ, पर प्रदूषण फैलाने वाले कारखानों या संस्थानों को बन्द करने के अधिकार बोर्डों को प्राप्त नहीं हुए । यह सोचा गया कि बोर्डों को अधिक सक्षम बनाया जाना चाहिए ताकि जल प्रदूषण की रोकथाम के लिए प्रभावी कार्यवाही हो सके । इस ओर अभी कोई ठोस निर्णय नहीं हो सका है ।

जाहिर है हमारी प्राथमिकताएं ये नहीं, दूसरी हैं । अन्यथा कोई कारण नहीं कि जल जो जीवन की प्राथमिक और मूलभूत जरूरत है, उसके प्रति भी हमारा दृष्टिकोण इतना साधारण क्यों हो ।

जल की महत्ता के अनुरूप जल के साथ हमारा रिश्ता फिर से जुड़ना पर्यावरण और परिवेशिकी की रक्षा के लिए जरूरी है । अन्यथा जल जहां जीवन है वहीं प्रलयंकारी भी ।

আর একা



थार का पर्यावरण

'थार' का पर्यावरण क्या सम्पूर्ण परिवेशिकी और पर्यावरण से कोई भिन्न बात है ? मोटे तौर पर देखें तो हर स्थान का अपना ही 'पर्यावरण' होता है। थार का भी, पहाड़ का भी और कहीं और का भी। इस सब में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी, कुछ ऐसी भिन्नता भी होती है जिससे उनकी अलग पहचान की जा सकती है।

लेकिन यहां हम केवल 'थार के पर्यावरण' की ही बात क्यों करना चाहते है ? प्रकृति के विविध रूपों मे थार की प्रकृति ही ऐसी है जो सब से भिन्न रूप में देखने को मिलती है। थार शब्द सामने आते ही हमारा ध्यान सूखा, रेगिस्तान, मरुस्थल, अकाल जैसी प्राकृतिक स्थितियों की ओर चला जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि 'थार' मे ही प्रकृति का सर्वाधिक अनुदार रूप देखने को मिलता है। लेकिन ऐसा कहना प्रकृति या पर्यावरण को ठीक से नहीं समझने जैसी बात ही मानी जायेगी। प्रकृति अनुदार है या उदार – यह किसके सोचने का प्रश्न है ? उनके—जो इससे केवल लेने भर की सोचते है – उसे सहेजने-समझने की चिन्ता नही करते। अनुदार या उदार जैसी बात उन्ही के लिए मानी रखती है। इस प्रकृति का या पर्यावरण का अपना ही चक्र है जो अपने ही मे गतिमान है। यही चक्र थार का भी है।

इसे ठीक से समझने के लिए हमें थार की संस्कृति को देखना और समझना होगा। जब हम इसे देखने की कोशिश करेंगे तो यह समझते देर नहीं लगेगी कि जिसे थार की अनुदार प्रकृति कहा जाता है वह भी कितनी जीवन्त है।

यह जीवन्तता हमे थार के कण-कण मे, हर गाव और वहां के वासियों मे देखने को मिलेगी। यह जीवन्तता थार की लोक संस्कृति में – जो लोकगीतों, लोक-कथाओ और लोकनृत्यों में रूपायित है—देखी जा सकती है। इसका दूसरा रूप थार के लोगों के रहन-सहन, पहनावे-परिधान, शिल्पकला और बसावट में देख सकते है। इन सबको ठीक से देखेंगे तो 'थार का पर्यावरण' समझने मे हमें सहजता होगी। इस पुस्तक मे 'थार का पर्यावरण' पर पृथक से चर्चा का कारण भी यही है कि यह एक भिन्न प्रकार की प्रकृति है जिसे अनुदार मान

लिया गया और उसे उदार बनाने की कई छोटी-बड़ी योजनाएं बनने लगीं। लेकिन इन सबमें थार के पर्यावरण की मूल दृष्टि कहीं भी लक्षित नहीं होती। यह दृष्टि थार की संस्कृति को ठीक तरह से समझने से ही पाई जा सकती है। इसलिए इस पर विस्तृत चर्चा और गहराई से अध्ययन की जरूरत है। अलबत्ता, यहां इस ओर मात्र संकेत भर करना ही हमारा अभीष्ट है।

थार मरुस्थल प्रकृति के विविध और मोहक नैसर्गिक रूपों से जहां वंचित रहा है वहीं यहां का लोक मानस रंग, रूप, राग, रस, की लोक अभिव्यंजनाओं से बहुत समृद्ध भी रहा है।

प्रकृति की हरीतिमा का सतरंगी कृपालु रूप तो थार को नहीं मिला, पर सूर्य की उज्ज्वल रश्मियों के सात रंग सुबह-शाम मरुधरा के रेतीले धोरों पर जिस तरह खिलते हैं वे श्वेत-धवल हिम शिखरों से कहीं भी कम आकर्षक या लुभावने नहीं कहे जा सकते। जो स्वच्छ-निर्मल नीलाभ थार में देखने को मिलता है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। आकाश भी कितना वैभवपूर्ण और ऐश्वर्यशाली है—यह तो थार की धरती पर खड़े होकर ही देख सकते हैं।

थार के जीवन को रंगों का अहसास शायद सूर्य की सतरंगी किरणों से ही मिला हो। थार की सूनी धरती पर लाल-कसूंबा या धानी-पीला रंग तो नहीं खिलता, पर इन रंगों से फूटने वाला अहसास यहां के गांवों की औरतें अपने जीवन में उतार चुकी हैं। लाल कसूंबे रंग में हरियल-पीले बूंटे या धानी-पीले रंग में हरियल बूंटों की ओढनी-चुनरी कब-किसे, किस वय में ओढ-पहननी है, इस बात को पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहां की महिलाएं जानती हैं।

मनमोहक फूल-पत्तियां तो थार के गर्भ से नहीं फूटतीं, पर अपनी कल्पना शक्ति से फूल-पत्ती, बेल-बूटों के चित्र और उनके रंग-संयोजन देखते ही बनते हैं।

और यह सब थार के जीवन में सहज रूप से रचा-पचा है। इसमें कहीं विशृंखलन आया है तो वह इन दशकों में ही आया है जब ऐसे सरस जीवन को आधुनिक विकास ने धकियाना शुरू किया है।

थार की शिल्पकला और आबादियों की बसावट को भी बारीकी से देखें तो पायेंगे कि प्रकृति के समरूप सब कुछ अपने जीवन में लोगों ने ढाल लिया। घरों का शिल्प और आकल्प यहां ऐसा है कि तेज गर्मी और सर्दी में घर सदा आरामदायक बने रहें। सीमेन्ट और इस्पात के न आने तक यह बात हर घर में रही। अलबत्ता, अब नये आकल्प के घर झुलसा देने वाले भी हैं और ठिठुराने वाले भी। इनको आरामदायक बनाने के लिए अब 'कूलर' और 'हीटर' जरूरी हो जाते हैं।

थार की इस संस्कृति और लोकजीवन को गहन रूप से समझना ज़रूरी है। इसके लिए खुली दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता है। तभी बहुत बारीकी से हम 'थार के पर्यावरण' को समझ सकेंगे। तभी इस पर पृथक और विस्तृत चर्चा संभव हो सकेगी।

जो संकेत यहां प्रस्तुत किये गए हैं उनके आधार पर थार की प्राकृतिक स्थितियों को यहां हमे थोड़ा विस्तार से देखना चाहिए। जो कुछ भी हमारे आसपास है उन सब पर प्रकृति का प्रभाव ही सर्वाधिक है। थार के पर्यावरण में भी थार की प्रकृति का ही सर्वाधिक प्रभावी रूप हमें देखने को मिलेगा और उसी की छाया यहां के सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक जीवन पर प्रतिबिम्बित होती दिखाई देगी।

जब हम थार की प्रकृति की बात करते हैं तो एक सपाट दृश्य हमारे सामने चित्रित हो जाता है। प्रकृति का एक ही रूप यहां देखने को मिलता है जो धुर मरुस्थल-रेगिस्तान का रूप है। यहां वर्षा नहीं, सूखा है। अच्छा जमाना नहीं, अकाल-दुष्काल है। लेकिन तब भी जीवन है, एक जीवन्तता है और जैसा कि कहा जा चुका है कि सतरंगी-सरस जीवन है।

इसे हम क्या कहेंगे? प्रकृति का अपना सन्तुलन नहीं तो यह क्या है। इस सन्तुलन को यदि बिगाड़ा न जाये, मानव प्रयत्नों से यदि इसे सहेजा जाये तो थार मरुस्थल अभिशाप की जगह वरदान भी साबित हो सकता है।

यह सच है कि थार का जीवन विलासिता, ऐय्याशी या मौज-मस्ती का जीवन नही है। किन्ही अंशों में ऐश्वर्य-भरा जीवन भी नहीं माना जा सकता। यहां का जीवन जीवट-भरा है और अलमस्ती वाला भी। यहां का प्राणी-जगत्—पशु पक्षी, मनुष्य जाति–कठोरतम परिस्थितियों मे बसर करने का अद्‌भुत सामर्थ्य रखता है। यही बात यहां की वनस्पति के बारे में कही जा सकती है।

मरुस्थल का जहाज कहा जाने वाला ऊंट, भेड़-बकरी और गोधन तथा इसी तरह यहा की वनस्पति—थार का कल्पतरु खेजड़ी, बोरड़ी, रोहिड़ा, फोग, केर, सेवण-धामण घास आदि वनस्पतियां कठोरतम हालात में भी खड़े रह सकते हैं। यह थार की विराट प्रकृति है और इनमें अनोखा सन्तुलन है। इसे ठीक से समझने और यहां की जीवन कला को गहराई में पैठ कर देखने से ही 'थार की थाती' का अनुमान लगाया जा सकता है।

यह मान लिया गया कि थार तो प्रकृति-विहीन है, पर यह गलत है। थार की विपुल प्राकृतिक सम्पदा है जिसे आधुनिक विकास की आंख ठीक तरह से

देख-समझ ले तो इसे द्विगुणित किया जा सकता है। 'एप्रोप्रिएट टेक्नोलॉजी' के नाम पर यह देखना आवश्यक है कि 'थार' के लिए क्या 'एप्रोप्रिएट' है। थार की भूमि, यहां की वन सम्पदा, यहां का पशुधन, गंभीर सूखे में बरसाती जल के संचयन के यहां के परखे-समझे जल प्रबन्धन के तरीके, गोचर-ओरण और इन सब के बीच एक सहज सन्तुलन बनाये रखने वाली तकनीक ही 'एप्रोप्रिएट टेक्नोलॉजी' साबित हो सकती है। सवाल है—क्या ऐसा हुआ है?

थार की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था इन्हीं सब पर अवलम्बित रही है। पशुधन यहां के अर्थचक्र की रीढ़ रहा है। पशुधन के संवर्द्धन के लिए जो कुछ किया जाना चाहिए उसकी जगह थार की धरती पर भी कृषि विकास की अंधी दौड़ चल रही है। नहर आने से सिंचित कृषि और कृषि यन्त्रों, ट्रैक्टर इत्यादि तथा रासायनिक खादों के इस्तेमाल ने 'थार के पर्यावरण' की मूल काया को जो नश्तर लगाए हैं उससे आज सब ठगे से खड़े हैं। भयंकर सूखे के समय जल के सबसे बड़े स्रोत नहर ने अंगूठा दिखाया है जिस पर 1500 करोड़ से भी अधिक रुपये खर्च हो चुके हैं।

यह ठीक है कि पशुपालन थार की जीविका का मुख्य आधार है, लेकिन ऐसा नहीं है कि यहां कभी कृषि होती ही न हो। थार के मुख्य कृषि उत्पाद मोठ, बाजरा और ग्वार ही है। लेकिन प्राचीन अभिलेखों में गेहूं, मूंग, कपास, तिल, जौ, चना और सरसों के उत्पादन लिये जाने के उल्लेख भी मिलते हैं। रबी की इन फसलों के लिए वर्षा के समय तालाबों में एकत्र पानी का उपयोग होता रहा है। इसी पानी से जमीन की सिंचाई कर ये उत्पाद लिये जाते थे। इससे यह साबित होता है कि सिंचाई के आधुनिक साधनों के अभाव में भी खाद्यान्न फसलें ली जाती थीं। कपास जैसी व्यापारिक फसल भी लेने का उल्लेख मिलता है, लेकिन यह अत्यल्प होता था। जीवन की अपनी जरूरत भर जितना।

आज स्थिति भिन्न है। थार मरुस्थल के गंगानगर और बीकानेर जिलों के उन हिस्सों में जहां सिंचित कृषि हो रही है—खाद्यान्न उत्पादन की बनिस्बत व्यापारिक फसलें लेने पर ही अधिक जोर है। इसका एक कारण भी है। यदि व्यापारिक फसलें नहीं ली जायें तो कृषि पर होने वाले व्यय की आपूर्ति भी नहीं हो सकती। सिंचाई के लिए नहर से मिलने वाला पानी, यांत्रिकता और रासायनिक खादों—कीटनाशकों पर पड़ने वाला खर्च इतना भारी होता है कि व्यय और आय का सन्तुलन बिठाने के लिए व्यापारिक फसलें लेना एक विवशता भी बन गई है। इससे भूमि और मिट्टी का जो क्षय होता है, वह

कहानी तो पहले कही ही जा चुकी है। उसे फिर से दोहराने की यहां जरूरत नहीं।

बरसाती पानी को संचित करने के जो भी तरीके यहां प्रचलित रहे हैं उनमें तालाब, कुई, बावड़ी, कुण्ड आदि मुख्य रहे हैं। एक-एक बून्द पानी का मोल थार के लोग बखूबी जानते थे और इसीलिए अपने दैनंदिन जीवन में भी पानी के इस्तेमाल के प्रति इतने संवेदनशील थे कि घी से पानी को अधिक मूल्यवान, महत्त्वपूर्ण मानते थे। एक नवविवाहिता के हाथ से पानी से भरा घड़ा छूटकर फूट जाने और पानी व्यर्थ बह जाने पर उसे सास-श्वसुर की कठोर फटकार सुनने तथा उसी के हाथ से घी का भरा घड़ा फूट जाने पर स्नेह भरी हिदायत भर मिलने की कथा पानी के प्रति थार के व्यवहार को स्पष्ट प्रकट करती है। नवविवाहिता ने अपनी सास से जब पूछा कि घी तो अधिक मूल्यवान है, तो भी मात्र हिदायत और पानी ढुलने पर कठोर फटकार–ऐसा क्यों? तो सास का बहू को इतना भर उत्तर था कि पानी के बिना तो जीवन नहीं है, घी के बिना बेशक रहा जा सकता है।

पानी के प्रति शहरी समाज का आज जो रिश्ता निर्मम बन गया है वह थार के ग्रामांचल में आज भी ममता, आदर और पवित्रता से भरा हुआ है।

यही ठीक है कि आज जो चुनौतियां विद्यमान हैं उनका मुकाबला करने के लिए हमें आज की परिस्थितियों में रहते हुए ही रास्ते तलाशने होंगे। वे रास्ते क्या हो सकते हैं? हमें विगत दो-तीन दशकों के अनुभवों और आधुनिक विकास की घटनाओं से निकले निष्कर्षों की ठीक-ठीक पड़ताल करनी चाहिए। तब हमें लगेगा कि वे रास्ते हमारी परम्परा, परिवेशिकी और पर्यावरण में से ही निकलने चाहिए। ऐसे ही रास्ते स्थायी, राहत देने वाले और सुखद हो सकते हैं और इन रास्तों की पर्याप्त संभावनाएं मौजूद हैं।

सवाल यह देखने का है कि विकास और 'समुचित विकास' के अर्थ सबके लिए है अथवा कुछ एक के लिए।

वन और थार की सामाजिक वानिकी

आज सामाजिक वानिकी का नारा बहुत जोरो से सुनाई देता है। यह सामाजिक वानिकी क्या है ? आज की दृष्टि से देखे तो हम यह पायेंगे कि सामाजिक वानिकी के नाम पर जो वनीकरण किया जाता है उसमे अधिकतर वे पौधे लगते है जो पेड़ बनकर कटते है। जो पेड़ कटते हैं वे किसी समाज या समुदाय के वृहत्तर हित के लिए नही, अपितु औद्योगिक भूख को मिटाने के लिए ही कटते है। तब यह वानिकी 'सामाजिक' कैसे कही जा सकती है ?

इसके विपरीत थार की सामाजिक वानिकी जो सदियों-पीढ़ियों से हमारी परम्परा मे रही है उसे देखे तो पायेंगे कि वह अपने समाज-समुदाय का जीवनाधार साबित हुई है। गोचर और ओरण सामाजिक वानिकी के ही पुख्ता और पवित्र रूप रहे है। हम इन पर आगे थोड़ी विस्तार से चर्चा करेंगे। इससे पहले हमे देखना चाहिए कि राजस्थान–जहा थार का अचल फैला हुआ है–की भौगोलिक स्थिति कैसी है।

यह भी देखना जरूरी है कि भारत की वन नीति क्या है। इसका इतिहास क्या है। यह देखना इसलिए भी जरूरी है कि इससे वनों के प्रति हमारी शासकीय चिन्ताएं और प्रतिबद्धताए स्पष्ट होती हैं।

हमें राजस्थान की भौगोलिक स्थिति का वानिकी के सदर्भ में थोडा जायजा लेना चाहिए।

राजस्थान मे पचास प्रतिशत से अधिक भूमि परती-भूमि के रूप में है। इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति अत्यन्त विषम है। पानी का अभाव, सर्द और गर्म तेज हवाएं, अन्धड-तूफान, अकाल-सूखा इस प्रदेश की पहचान हैं। अकाल का तो यह स्थायी घर है।

इस प्रदेश के साथ प्रकृति का यह असन्तुलित व्यवहार कभी वनों के अन्धाधुन्ध निर्मम विनाश के कारण ही हुआ माना जा सकता है। राजस्थान का रेगिस्तान प्राकृतिक वेरुखी के बनिस्वत मानव-जनित ही माना गया है। यह मानते हैं कि पश्चिमी राजस्थान के थार क्षेत्र मे कभी सरस्वती नदी बहती थी। मशहूर पुरातत्व शास्त्री (स्व.) डॉक्टर विष्णु श्रीधर वाकणकर की अब

तक की खोज के आधार पर यह माना गया है कि ढाई लाख वर्ष पूर्व सरस्वती नदी इस प्रदेश मे बहती थी। 40 हजार वर्ष पूर्व आये भूचाल से इस नदी का बहाव अरावली की ओर सरक गया। दस हजार वर्ष पूर्व एक और भूचाल आया और सरस्वती नदी घाघरा नदी के मार्ग से होते हुए हनुमानगढ़ और सूरतगढ़ के बहावलपुर क्षेत्र में सिन्धु के समानान्तर बहती हुई कच्छ के मैदान मे मिल गई। राजस्थान के गंगानगर जिले में पीलीबंगा और कालीबंगा मे हुई खुदाई मे जो पुरातत्व अवशेष मिले है उन्हे हड़प्पा और मोहनजोदडो काल के माने गए हैं। डॉक्टर वाकणकर भी यही मानते हैं कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृति हड़प्पा इसी नदी के किनारे फली-फूली। इस तरह इतिहास और पुरातत्व अन्वेषकों के अब तक के नतीजों के आधार पर यह मान लेना युक्ति-संगत ही कहा जायेगा कि राजस्थान का थार रेगिस्तान मानवजनित ही प्रतीत होता है।

राजस्थान देश मे पहला प्रदेश है जहा सर्वाधिक एक करोड अस्सी लाख (18 मिलियन) हेक्टेयर परती-भूमि है। राजस्थान के बाद मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र का स्थान है। राजस्थान मे कुल भूमि तीन करोड़ बयालीस लाख चौतीस हजार हेक्टेयर है। इस कुल भूमि का 6 प्रतिशत 20,77,000 हेक्टेयर वन और करीब सवा पाच प्रतिशत 18,36,000 हेक्टेयर भूमि चरागाहों के लिए है। आंकड़ो से यह भी पता चलता है कि प्रदेश में वनो का विनाश कभी न रुकने वाला चक्र रहा है। सन् 1957 मे जहा 12.94 प्रतिशत वन थे वे सन् 1977 तक घट कर 10 प्रतिशत ही रह गए। इसमे भी हरे पेड़ों से आच्छादित वन तो मात्र तीन प्रतिशत हैं।

वनो का विकास इस प्रदेश के लिए यद्यपि एक गंभीर चुनौती है, लेकिन यदि हम अतीत की ओर थोडा झाककर इस चुनौती का सामना करने की कोशिश करें तो यह कार्य इतना दुरुह नही लगेगा।

वैसे तो भारत की संस्कृति ही अरण्य संस्कृति रही है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों मे दण्डकारण्य, नन्दन वन तथा खाण्डव वन जैसे आकर्षक वनों का उल्लेख मिलता है। गौतम बुद्ध ने वनों के बारे में सदियों पहले वह सब कह दिया था जो आज की भोगवादी दुनिया के वानिकीविद सोच भी नही सकते। गौतम बुद्ध ने कहा—

> 'वन असीम दया और परोपकार की ऐसी विशेष देन है जो अपने निर्वाह के लिए कुछ मांग नही करता और अपने जीवन के उत्पादों को उदारतापूर्वक देता है,

यह सभी जीवों को संरक्षण प्रदान करता है
और उस लकड़हारे को भी छाया देता है
जो कि उसका विनाश करता है।'

हमें भारत की वन नीति और उसके इतिहास को भी देखना चाहिए।

हमारे देश में कुल वन क्षेत्र करीब बाईस प्रतिशत है जो कि विश्व के औसत प्रतिशत से बहुत कम है। उत्तम परिवेशिकी (प्रकृति) सन्तुलन के लिए माना गया है कि न्यूनतम 25 से 33 प्रतिशत वन क्षेत्र होना चाहिए। भारत में कुल धरती-भूमि 146 मिलियन हेक्टेयर (एक अरब छयालीस करोड़) मानी गई है।

भारत में वन संरक्षण के बारे में हम पीछे झांककर देखें। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में वानिकी प्रशासन का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। यह 300 ईसा पूर्व की बात है जब वनों और वन्य जीवों के संरक्षण के लिए एक वन अधीक्षक की नियुक्ति की गई। सम्राट् अशोक के शासनकाल में सड़कों और शिविर स्थलों के आसपास वृक्षारोपण को बड़ा महत्त्व दिया जाता था।

मुगल काल में सम्राट् अकबर ने नहरों और राजमार्गों के आसपास वृक्षारोपण के प्रति गहरी रुचि दिखायी थी। लेकिन इस सच्चाई से भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि आबादी के विस्तार के साथ-साथ वनों का विनाश और कटाई भी बढ़ती गई। राज्याध्यक्षों और शासकों ने कुछेक वृक्षों का 'शाही वृक्ष' के रूप में अभिषेक किया और शेष को लकड़हारों के भरोसे छोड़ दिया। तब भी यह सच है कि—

'चारों ओर लकड़हारे हैं
फिर भी पेड़ कहां हारे हैं'

अंग्रेजी हुकूमत ने भारत की विपुल सम्पदा का निष्ठुरता से विदोहन किया था। वन सम्पदा का भी गोरे हाथों ने निर्ममता से विनाश किया। सागवान और दक्षिण भारत में चन्दन के वनों की कटाई भारी मात्रा में हुई। यह लकड़ी ब्रिटिश नौसेना के उपयोग और योरोपीय बाजारों में ले जायी गई। इस तरह अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में वनों का विनाश भारी मात्रा में तेजी से हुआ। इसी बीच मानवजनित वन संरक्षण की दिशा में पहला कदम सन् 1842 में उठा जब नीलाम्बूर (केरल) में प्रथम सागवान के बाग की स्थापना हुई। सन् 1855 में पूरे देश में वनों के संरक्षण के लिए नियम निर्धारित किये गए। सन् 1864 में डॉ. डिकट्रिच बांडिस नाम के व्यक्ति को प्रथम वन महानिरीक्षक नियुक्त किया गया। सन् 1878 में एक संशोधित भारतीय वन

अधिनियम लाया गया। सन् 1878 मे ही देहरादून मे पहला वन विद्यालय खोला गया और सन् 1891 मे प्रान्तीय वन सेवा का शुभारम्भ किया गया। सन् 1906 मे देहरादून मे इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट (सम्प्रति वन अनुसधान सस्थान तथा महाविद्यालय) की स्थापना की गई।

सन् 1910 मे राष्ट्रीय स्तर पर वानिकी बोर्ड बना। लेकिन सन् 1914-18 में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारी मात्रा में वन नष्ट भी हुए। सन् 1947 मे भारत जब स्वाधीन हुआ तो गोरे वन अधिकारी देश छोड कर चले गए और वन सरक्षण की कमान भारतीय अधिकारियो के हाथो मे आ गई।

छठे दशक मे स्वाधीन भारत मे वन सरक्षण के लिए नये-नये कानून बने। इसी दशक मे वन महोत्सव आरम्भ हुआ। इसी अवधि मे मानव निर्मित वनों का भी प्रादुर्भाव हुआ। 12 मई, 1952 को राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा हुई। यह वन नीति 19 अक्टूबर 1894 के वन प्रबन्धन नियमो की सामान्य नीति के अध्ययन के आधार पर तैयार हुई।

भारत सरकार ने 1950 मे वन नीति निर्धारित करने के लिए केन्द्रीय वन बोर्ड का गठन किया, लेकिन मजेदार बात यह कि मई 1951 से मई 1970 के दो दशक के इस दीर्घकाल मे केन्द्रीय वन बोर्ड की मात्र बारह बैठके हुई। तेरहवी और चौदहवी बैठकें फरवरी 1973 और अक्टूबर 1974 मे हो पायी।

सन् 1950 से 1980 तक तीस वर्ष की अवधि मे वनों के योजनाबद्ध विकास पर 483.22 करोड़ रुपये का पूजी निवेश हुआ। जबकि केवल छठी योजना मे ही 692.49 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान रखा गया। इसी अवधि मे सन् 1974 मे सामाजिक वानिकी कार्यक्रम शुरू हुआ।

चाहे छठे दशक मे राष्ट्रीय वन महोत्सव शुरू किया गया हो अथवा सन् 1974 मे सामाजिक वानिकी का कार्यक्रम, लेकिन ये सभी सरकारी अभिक्रम मात्र बन कर ही रह गये। जन आन्दोलन की रचना नही हो सकी। यही कारण है कि विपुल धनराशि के खर्च का कोई सन्तोषजनक प्रतिफल कही भी दिखायी नही देता।

वन और पेड़ की पूजा भारतीय जीवन के मूल मे है। सामाजिक वानिकी की अवधारणा भी भारत के लिए नई नही है। हमारे ओरण-चरागाह और गोचर इसके प्रमाण हैं। प्राचीन काल मे इनका संरक्षण श्रद्धा और आस्था के साथ होता रहा है। पीपल, खेजड़ी और बड़ के पेड़ों की पूजा आज भी ग्रामीण अंचल का श्रद्धास्पद और सहज करुणामय अभिक्रम है। तन्त्र की जटिलता ने

एक ओर तो आम जन के इस व्यवहार को कुटिलतापूर्वक खण्डित और ध्वस्त किया, जबकि दूसरी ओर वन महोत्सव अथवा सामाजिक वानिकी के नारे आम जन के जीवन में रच-पच ही नहीं पाये। ये मात्र औपचारिक अनिक्रम भर ही रह गये।

ऐसा क्यों होता रहा? इन कारणों को समझना जटिल नहीं है। जिन हाथों में इन कामों का दायित्व था, उनका इन कार्यक्रमों के साथ प्रीतिकर जुड़ाव कभी नहीं रहा। इसीलिए इन कार्यक्रमों में उनकी संलग्नता ऊपरी, दिखावटी और कागजी रही। इसीलिए ये नारे खोखले सिद्ध होते रहे हैं।

इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए राजस्थान को ही लें। पूरे देश में सर्वाधिक परती-भूमि राजस्थान में है और सबसे कम वन भी इसी प्रदेश में हैं। लेकिन इस प्रदेश की परम्पराओं को देखें तो पायेंगे कि वनों के प्रति केवल करुणामय भाव ही यहां नहीं रहा, अकथ श्रद्धा भी यहां रही है। नये-नये नाम और भोगवादी संस्कृति दुर्भाग्य से इस करुणा और श्रद्धा पर भारी आघात पहुंचाते रहे हैं। राजस्थान में शायद ही कोई गांव ऐसा हो जहां गोचर-चरागाह आरक्षित न रहे हों। प्रदेश के मंदिरों के नाम पर 'ओरण' छोड़ने की परम्परा अति प्राचीन रही है और सामाजिक स्तर पर उनका संरक्षण श्रद्धा के साथ होता रहा है। ओरण और गोचर चूंकि सार्वजनिक सम्पत्ति है इसलिए आज की व्यवस्था में इनका कोई संरक्षक नहीं। बस इसीलिए लालची गिद्ध-दृष्टि इन पर सदैव टिकी रहती है और जब जिसके मन में आया उस पर अतिक्रमण किये जाते हैं। राजनीति की क्षुद्रता और दायित्वहीनता ने इन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया है। परिणाम यह हुआ कि गोचर और ओरण की परम्परा विलुप्त होती गई। इस पर हम आगे और विस्तार से चर्चा करेंगे।

आज जिस सामाजिक वानिकी की बात तेज प्रचार के बाद भी किसी के कानों तक नहीं पहुंच रही है वह कभी गोचर और ओरण के रूप में जन-जन में रची-पची थी। इसी परम्परा को यदि अक्षुण्ण बनाने की कोई पहल और कोशिश हुई होती तो सामाजिक वानिकी का उद्देश्य स्वतः फलीभूत हो जाता।

पश्चिमी राजस्थान में हर गांव में आरक्षित गोचर-चरागाह छोड़ने की परम्परा भी इस प्रदेश में अति प्राचीन है। इन चरागाहों में हरे वृक्ष काटना अपराध माना जाता रहा है और ऐसा करने वाले दण्डित होते रहे हैं। राजस्थान के पुराने अभिलेखों में कितने ही ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं। ऐसे अभिलेख भी देखने को मिलते हैं जिनमें गोचर के प्रबन्ध का दायित्व सरकार के साथ-साथ साहूकारों पर भी डाला गया है। सामाजिक वानिकी के इससे बेहतर उदाहरण और क्या हो सकते हैं?

लेकिन आज सामाजिक वानिकी के प्रायः सभी अभिक्रम भोगवाद को प्रश्रय देने वाले सिद्ध हुए हैं। गोचर परम्परा के पवित्र भाव इसीलिए नही जुड पाये हैं।

सामाजिक वानिकी कार्यक्रम को लागू करते समय यह स्पष्ट कहा गया कि सामाजिक वानिकी का सर्वाधिक लाभ ग्रामीण निर्धन को मिलना चाहिए। भारत सरकार के ग्रामीण विकास मंत्रालय के तत्कालीन सचिव श्री डी. बंद्योपाध्याय ने राज्यों के मुख्य सचिवों को जो अर्द्धशासकीय पत्र क्रमांक एम. 13011/1/85 पॉलिसी युनिट दिनांक 28 मार्च 1985 लिखा—उसमें उपर्युक्त उल्लेख स्पष्ट है। इस पत्र में यह भी लिखा है कि सामाजिक वानिकी मे ग्रामीण समुदाय की सहभागिता होनी चाहिए। कार्य का चयन और निर्धारण तथा वृक्षारोपण के लिए पौधों का चयन, उनका रख-रखाव और सुरक्षा आदि कार्य जन-समुदाय की सलाह और अभिशंसा के आधार पर किया जाना चाहिए। लेकिन हम देखते हैं कि वास्तविक अर्थों में यह बात कही भी देखने को नही मिलेगी। सामाजिक वानिकी का समूचा कार्यक्रम ऊपर से थोपा हुआ अथवा एक बेजा ताम-झाम मात्र बना हुआ है।

राजस्थान के किसी भी क्षेत्र मे निर्धन ग्रामीण के लिए युकेलिप्टस (सफेदा) उपयोगी पेड़ नही है। यह औद्योगिक उपयोग का पेड़ है। केवल युकेलिप्टस ही नही सुबबूल और इजरायली बबूल भी ऐसे ही पेड़ हैं। पर ये पेड़ राजस्थान में खूब लगे हैं।

भारत सरकार के पर्यावरण विभाग और राजस्थान के वन विभाग के सहयोग से प्रादेशिक सेना के जवानों ने सन् 1983 मे इन्दिरा गाधी नहर परियोजना क्षेत्र में चरागाह विकास और वनीकरण का काम शुरू किया। यह कार्य करीब पचास हजार हेक्टेयर क्षेत्र में किया जाना है। 'इको-टास्क-फोर्स' के नाम से चल रहा यह कार्य बड़ा महंगा है। 600 जवान यहां कार्य कर रहे हैं जिन्हें एक हजार रुपये माहवार से 6 लाख रुपये प्रतिमाह वेतन ही देना पड़ रहा है। इन पर तीन मेजर, नौ जूनियर कमीशंड आफिसर (जे. सी. ओ.) और एक कर्नल भी तैनात है। भोजन, वस्त्र, वाहन, मोटर पम्प और दूसरे ताम-झाम पर जो खर्च हो रहा है उसका मिजान भी लाखों के वारे-न्यारे करने वाला है। नहर से मिलने वाला पानी और खुले हाथों से उसका इस्तेमाल—यह सब इतना भारी है कि बहुत अच्छा कार्य मानते हुए भी महगा सौदा ही कहा जा सकता है। यह महंगा सौदा भी मान्य हो जाये यदि इसी काम में जन-भागीदारी जुड जाये।' अब से सताश लागत पर तब बेहतर परिणाम भी आ

सकते हैं। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि तब चरागाह और वनीकरण स्थानीय अनुकूलता व आवश्यकता को प्रमुखता देते हुए होने की सभावना भी बन सकती है। जिससे क्षेत्रीय अर्थचक्र सुदृढ़ बन सकता है।

इसी प्रकार का कार्य इन्दिरा गाधी नहर के दोनों तरफ किया गया है। विश्व खाद्य कार्यक्रम तथा विश्व बैंक की सहायता से नहर के किनारों पर जो पौधे लगाए गए हैं वे सभी विदेशी प्रजातियों के हैं। मुख्यतः सफेदा और इजरायली बबूल यहा खड़े है। यहां के वृक्षारोपण को देखने से यह धारणा पुष्ट होती है कि हम पश्चिम के ज्ञान पर ही इतराते रहे है। सफेदा, इजरायली बबूल और सुबबूल पश्चिम से हमने उधार लिए और वहा की जूठन पर सिर ऊंचा किये खुश हो रहे है।

एक साधारण-सा सवाल खड़ा होता है कि यदि ये पेड़ हमारे अनुकूल होते तो खेजडी, फोग, रोहिड़ा आदि की तरह इस धरती पर ही क्यो न होते। इतना ही नही, यदि यहा की धरती इन्हें अपनी कोख मे सहज ही धारण करती तो पश्चिम से हर वर्ष आने वाले पक्षियो के साथ प्राकृतिक रूप से आये बीज यहां निश्चय ही अंकुरित होते। पर ऐसा तो कहीं देखने को नहीं मिलता। जबकि इसके विपरीत सन् 1987 मे अखबारो मे छपा कि जयपुर के आसपास शीत-लहर के कारण आठ-दस वर्ष पुराने सफेदे के पेड जल गए और करोडो रुपये की हानि हो गई। स्पष्ट है कि यदि ये पेड यहां की प्रकृति के अनुकूल होते तो सर्दी के प्रकोप को खेजड़ी की तरह झेल लेते और कुछ न बिगड़ता। भीषण सर्दी हो या गर्मी—खेजड़ी के वृक्ष लद-फद खड़े रहते है। क्यों? इसलिए कि प्रकृति ने इस पेड को यहा की पारिस्थितिकी के लायक ही बनाया है।

लेकिन उधार और अधकचरे ज्ञान के अहंकार ने खेजड़ी की भरपूर उपेक्षा की। रोहिडा, फोग, बावलिया, बोरटी को सामाजिक वानिकी से अलग रखा गया।

सौभाग्य से थार की इन वनस्पतियो की उपयोगिता और लाभो को अब समझा जाने लगा है।

आखिर खेजडी और थार की वनस्पतियो को प्रकृति ने यहीं पर क्यों दिया? खेजडी पशुओ के लिए पोषक चारा, ईंधन और फल, घनी हरी छाया, मिट्टी के लिए उर्वरक तत्व और पंछियों के लिए बसेरा देने मे समर्थ है जो इस क्षेत्र की परम आवश्यकता है। क्योंकि यह क्षेत्र पशुपालन बहुल, कम वर्षा और शुष्क क्षेत्र है। खेजडी यहां की जरूरतों की पूर्ति करने मे सक्षम-समर्थ पेड़ है। इजरायली बबूल और सफेदा में यह क्षमता है ही नही।

इसीलिए 258 वर्ष पूर्व वि.संवत 1787, भाद्रपद शुक्ला दशमी के दिन खेजड़ी की रक्षा के लिए जोधपुर के निकट खेजड़ली जनपद में 363 लोग शहीद हो गए। यह घटना हमें क्या संदेश देती है? यही कि खेजड़ी इस क्षेत्र का जीवन रक्षक है, आधार है। एक कल्पतरु है जो दुर्दिन और भीषण संकट में भी राहत प्रदान कर सकता है। सामाजिक वानिकी के लिए बलिदान की ऐसी घटना इतिहास में दूसरी नहीं है।

जिस सामाजिक वानिकी कार्यक्रम की सफलता के लिए आज जी तोड़ प्रयास हो रहे हैं उसका मूल तो भारतीय परम्परा में सदैव ही रहा है। इसी मरुधरा की माटी पर पांच सौ वर्ष पूर्व सन्त जाम्भोजी महाराज ने जो जीवन दृष्टि समाज को दी—सामाजिक वानिकी की उससे अधिक सशक्त कोई अवधारणा हो ही नहीं सकती। सन्त जाम्भोजी के उनतीस सिद्धान्तों को यदि हम देखें तो पायेंगे कि उनसे महान और समर्थ पर्यावरणविद दुनिया में कोई नहीं हुआ। लेकिन हम उन्हें भूल गए। पश्चिम की चमक और लुभावनी तड़क-भड़क ने हमें अपनी परम्परा से विलग कर डाला। इसीलिए सन्त जाम्भोजी के सिद्धान्तों की महत्ता को देखने-समझने की आस हमारे पास नहीं रही।

सामाजिक वानिकी की ये पुष्ट और परखी हुई अवधारणाएं हैं। इन पर किसी तरह की शंका की गुंजाइश नहीं, लेकिन यह सवाल निर्ममता से हमारे सामने खड़ा है कि क्या इन परम्पराओं को पुनर्स्थापित किया जा सकता है?

इस सवाल का उत्तर किसी एक के हाथ में नहीं है, पर सामाजिक वानिकी के मकसद पूरे करने के लिए हमें अपनी परम्परा में ही उत्तर तलाशने होंगे। हमें यह भी मान लेना चाहिए कि परम्परा का अर्थ हर जगह प्रतिगामी ही नहीं होता।

गोचर-ओरण

गोचर-ओरण थार मरुस्थल के ऐसे आधार रहे है जिन्हे पृथक करके थार के पर्यावरण को पूरी तरह नही समझा जा सकता। वैसे तो सम्पूर्ण भारत ही कृषि प्रधान रहा है। कृषि और पशुपालन भारत के ग्रामांचल का साझा आधार है, पर थार मरुस्थल का तो मुख्य आधार ही पशुपालन है। यही कारण है कि यहां गोचर की परम्परा अति प्राचीन रही है। ओरण की परम्परा, गोचर की परम्परा सदा पवित्र और सर्वहितकारी रही है।

इस परम्परा पर ज्यों-ज्यो जख्म गहरे होते गए थार की दीन-हीन अवस्था भी बढती गई। गोचर के प्रति श्रद्धा के भाव ज्यों-ज्यों तिरोहित होते गए, इसके रख-रखाव और सवर्द्धन के प्रति वेरुखी भी बढ़ती गई।

एक सवाल खडा हो सकता है कि ऐसा क्यों होता रहा? इसका उत्तर एकाकी नही हो सकता। हमारे सोच और चिन्तन की समग्र दृष्टि ही इसका उत्तर है। जिस पर इस पुस्तक में काफी-कुछ कहा गया है। अब तो सवाल यही है कि क्या अब भी हम सबक लेने को तैयार नहीं है?

जब हम यह सोचते है तो पाते है कि थार का पर्यावरण अभी भी इस हालत में है कि उसे सन्तुलित बनाये रखना अधिक दुरूह नही है। नश्तर लगने के उपरान्त भी अभी तक हालत उपचार की स्थिति से बाहर नहीं गई है। रोग बढ़ा है, पर लाइलाज नही हुआ है।

यदि अभी भी थार के पर्यावरण को सन्तुलित बनाये रखना है तो इसके गोचर-ओरण को सम्हालना होगा। थार का पर्यावरण बहुत-कुछ इसी पर निर्भर है। कैसे?

थार मरुस्थल मे औसत वर्षा का अनुपात सामान्यत: 8 से 30 सेन्टीमीटर है जबकि पूरे राजस्थान में यह औसत 18 से 75 से.मी. है। विगत एक सौ साल के आंकडो मे यह पता चलता है कि पश्चिमी राजस्थान मे आम तौर पर सूखा रहा है। करीब आधी सदी मूगा अथवा गभीर सूखा और अकाल मे रही है जब मात्र 25 प्रतिशत जमाना हुआ होगा। पांच वर्ष ऐसे रहे हैं जब 25 मे 50 प्रतिशत जमाना हुआ है और पांच वर्ष 50 से 75 प्रतिशत जमाने वाले

रहे है । पूरी एक सदी में मात्र बारह वर्ष ऐसे रहे हैं, जब अच्छा जमाना हुआ है।

राजस्थान और मुख्यत: पश्चिमी राजस्थान के ग्यारह जिले पशुधन बहुल क्षेत्र हैं। राज्य में कुल पशुधन 4 करोड़ 94 लाख 86 हजार है। इसमें गायें 1 करोड 34 लाख 65 हजार तथा भेडें एक करोड़ तैंतीस लाख छयासी हजार है। पश्चिमी राजस्थान के ग्यारह जिलो—जोधपुर, नागौर, पाली, जालौर, बाडमेर, जैसलमेर, बीकानेर, गंगानगर, चूरू, झुंझनू और सीकर में दो करोड तैंतीस लाख बीस हजार (23 32 मिलियन) पशुधन है। पश्चिमी राजस्थान में ही थार मरुस्थल के सात जिलो—बीकानेर, जोधपुर, बाडमेर, जैसलमेर, चूरू, नागौर और गगानगर में यदि हम गायों और भेड़ों की संख्या देखेंगे तो वह कुल पशुधन का लगभग आधा होगा। इन जिलो में कुल गौधन 36 लाख तथा कुल भेड़ें 73 लाख 18 हजार 904 है। इस विपुल पशु सम्पदा से राज्य को कुल आय का 19 प्रतिशत प्राप्त होता है।

इन तथ्यों से यह जाहिर है कि राजस्थान मे पशुपालन एक महत्वपूर्ण धन्धा है और पश्चिमी राजस्थान तथा थार के क्षेत्र का यह मुख्य आधार रहा है।

पशु सम्पदा के वैभव से भरे इस मरुक्षेत्र की परिवेशिकीय और पर्यावरण-स्थितियो की ओर यदि हम गौर करें तो पायेगे कि इतना विपुल पशुधन देकर प्रकृति ने यहां सूखा और अकाल का अभिशाप क्यो दिया ? और सूखे तथा अकाल के इस अभिशाप के रहते यहां पशु सम्पदा मे निरन्तर वृद्धि कैसे होती रही। तथ्यो से पता चलता है कि सन् 1951 में पश्चिमी राजस्थान के ग्यारह जिलो मे 99 लाख पशुधन था जो सन् 1983 तक बढ कर दो करोड से भी अधिक हो गया। ठीक इसके विपरीत मन् 1951 में जहां 0 90 हेक्टेयर चरागाह भूमि हमारे पशुधन के लिए उपलब्ध थी वह घटकर 0 38 हेक्टेयर भर रह गई।

पश्चिमी राजस्थान की अधिकांश भूमि घास तथा वानिकी के उपयोग के लिए ही अनुकूल है। इसके उपरान्त यहा चरागाह की वनिस्बत खेती का प्रतिशत बढा। मन् 1960 मे 26 प्रतिशत भूमि पर खेती होती थी जो सन् 1970 में 38 प्रतिशत और आठवें दशक के समाप्त होते-होते 44.57 प्रतिशत खेती होने लगी। यह समझने की बात है। यहां की भूमि खेती की बजाय चरागाह के लिए ही उपयुक्त है जबकि आंकड़ो से जाहिर है कि खेती का क्षेत्र बढा है और चरागाह का क्षेत्र घटा है। दूसरी ओर पशुधन मे भी वृद्धि हुई है। दरअसल अभिशाप तो यह परिस्थिति है।

स्वाधीनता मे पूर्व जब इस मरुधरा को नियोजित विकास की हवा नही लगी

थी तब परम्परागत समझ रखने वाले हमारे पुरखों ने हर गांव और क्षेत्र में गोचर-ओरण आरक्षित किये थे। अधिकांश जिलों के राजस्व रिकार्ड इसका प्रमाण है। इन ग्यारह जिलों में 8 लाख 46 हजार हेक्टेयर गोचर चरागाह राजस्व रिकार्डों में दर्ज है। राजस्थान राजस्व अधिनियम के अनुसार गोचर चरागाह क्षेत्र की भूमि को किसी अन्य रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है और न चरागाह को छोड़ कोई और उपयोग उसका किया जा सकता है।

जिलावार चरागाह भूमि

क्र.	जिले का नाम	चरागाह भूमि (हेक्टेयर में)
1	जोधपुर	1,23,000
2	नागौर	74,000
3	पाली	92,000
4	जालौर	51,000
5	बाड़मेर	2,13,000
6.	जैसलमेर	89,000
7	बीकानेर	39,000
8	चूरू	48,000
9.	सीकर	48,000
10.	झुंझुनू	45,000
11	श्रीगंगानगर	26,000
	योग	8,46,000

इस लेखक ने परम्परागत गोचर चरागाहों की वर्तमान स्थिति का जब अध्ययन किया तो पाया कि अधिकांश चरागाहों की तरफ किसी भी स्तर पर कभी कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। अध्ययन के दौरान चरागाहों पर नाजायज कब्जे अथवा राजकीय स्तर पर उनका अन्य कामों में उपयोग करने के कतिपय मामले भी मिले। स्वाधीनता से पूर्व इन्हीं चरागाहों का उपयोग केवल गोचर के लिए ही किये जाने की छूट थी। तत्कालीन राज्य व्यवस्था इस प्रसंग पर इतनी सजग और सक्रिय थी कि गोचर की भूमि पर पेड़ काटने, घास उखाड़ कर बेचने अथवा सघन रूप से भेड़-बकरी चराने वालों को भी दण्डित किया जाता था। अध्ययन के दौरान इस तरह के कई उदाहरण देखने को मिले। ऐसा करने वालों को आर्थिक दण्ड दिया जाता। गोचर और ओरण की एक

पवित्रता भी तब के समय में स्थापित थी और हर व्यक्ति उसे बनाये रखने के लिए प्रतिबद्ध था। तब का यह सामाजिक संस्कार और व्यवस्था आज पूरी तरह से विलुप्त हो चुकी है। गोचर और ओरण की पवित्रता नष्ट हो चुकी है।

एक तरफ यह पवित्रता और सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई तथा दूसरी ओर तथाकथित सुनियोजित विकास ने गोचर और चरागाह की कोई सुध नहीं ली। आज हम यह महसूस करते हैं कि पश्चिमी राजस्थान में अकाल और सूखे का इतना सघन दुष्प्रभाव इसीलिए बना हुआ है। किसी भी स्तर पर चरागाहों के विकास की दिशा में गम्भीरता से सोचा ही नहीं गया। राजस्थान सरकार के सामने पशुधन को बचाने के लिए घास-चारे का गम्भीर संकट सदैव खड़ा रहता है। तब भी चरागाहों के विकास की दिशा में कोई बड़ी योजना अब तक सामने नहीं आई है।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि राजस्थान सरकार ने ऐसी कोई योजनाएं बनाई ही नहीं। विशाल राजस्थान नहर (अब इन्दिरा गांधी नहर), मरुस्थल विकास योजना और सूखा उन्मूलन कार्यक्रम, सघन पशु विकास योजना आदि कुछ ऐसी योजनाएं गिनाई जा सकती हैं जो थार मरुस्थल की जरूरतों को पूरा करने के लिए उपयोगी कही जा सकती हैं। लेकिन अब तक का अनुभव बताता है कि अकाल के गम्भीर समय में राजस्थान को पूरी तरह से पंजाब और अन्य प्रदेशों के उस घास-कचरे पर आश्रित रहना पड़ता है जो किसी भी सूरत में खाने योग्य नहीं होता है। यह घास-कचरा सर्वथा अपौष्टिक होता है जिसके निरन्तर सेवन से गायों को रतौंधी, पेट के विकार हो जाते है और कालान्तर से गर्भ धारण करने की क्षमता ही समाप्त हो जाती है। स्पष्ट है कि यह घास-तूड़ी-कचरा खिलाकर हम जो पशुधन मौत के मुंह से बचा पाते हैं वह प्रकारान्तर से नकारा पशुधन ही होता है। ऐसी स्थिति में पश्चिमी राजस्थान का अर्थ-चक्र यदि डगमगा उठता है तो इसमें ताज्जुब क्या?

इस बात को जानते हुए भी कि पश्चिमी राजस्थान और थार के सम्पूर्ण जन-पदों के अर्थ-चक्र की धुरी पशुधन है—इसके संवर्द्धन और संरक्षण की तरफ उपेक्षा क्यों बरती गई? इस सवाल का उत्तर यह लेखक यहां देकर विषयान्तर नहीं होना चाहता। अलबत्ता यह समझना जरूरी है कि प्रकृति ने इस धरती पर गम्भीर सूखा देते हुए भी पर्याप्त सन्तुलन बनाये रखा है। इस सन्तुलन को यदि ठीक से समझ लिया जाये तो सूखे के बावजूद भी अकाल और दुष्काल के दुष्प्रभावों से थार को सहज ही बचाया जा सकता है।

प्रकृति ने इस क्षेत्र में अत्यल्प वर्षा दी है तो मिट्टी भी ऐसी दी है कि जिसमें खेती करना लाभकर नहीं हो सकता। लेकिन इसके विपरीत पशुधन के पोषण

के लिए ऐसी घासें और पेड-पौधे दिये हैं जो इस मिट्टी और सामान्य सी वर्षा मे ही खिल सकते है–जीवित रह सकते है। सेवण, धामण घास तथा खेजड़ी, बोरटी, फोग जैसे पेड और झाडियां न केवल यहां की मिट्टी के लिए उपयुक्त हैं–इनको थोडी सी वर्षा और नमी भर चाहिए जो गंभीरतम सूखे के बावजूद भी मिल ही जाती है। अध्ययन से पता चलता है कि अनावृष्टि के वर्षों में भी ऐसा कोई वर्ष नहीं रहा जब यह धरती वर्षा की बून्दों से वंचित रही हो, एक बार भी न भीगी हो। मरुधरा की ये वनस्पतियां भू क्षरण को रोकने मे पूर्णतः समर्थ हैं। घासो, फोग, सीणिया और बूई की झाड़ियों मे रेत के टिब्बो को स्थिर करने की गजब की क्षमता है। आंधियो के कारण रेत के धोरे इधर से उधर पसरने से सहज ही रोके जा सकते हैं–यदि इन वनस्पतियों से इस धरती को नगा होने से बचा ली जाये।

सुनियोजित, गतिशील, उन्नत तकनीक के आज के विकास ने इस ओर ध्यान ही नही दिया। प्रकृति और परिवेशिकी में स्वतः विद्यमान इस विकल्पो के स्थान पर पश्चिम से आयातित विकल्प थार की धरती पर थोपे गए। युकेलिप्टस, इजरायली बबूल, सुबबूल जैसी वनस्पतियों ने मिट्टी और वायु की आर्द्रता को क्षीण कर डाला। फलतः प्रकृति के पेट मे स्वत उपजने वाली वनस्पतियां विलुप्त होने लगी। बेशक इस विलोप में मनुष्य के लालची हाथो तथा पशुधन का अति चरण भी भागीदार है। लेकिन इन पर नियंत्रण के दायित्व को कभी भी गम्भीरता से नही निबाहा गया।

यह भी समझने की बात है कि थार की भूमि खेती के लिए तथा अति सिंचाई से खेती के लिए कतई उपयुक्त नही है। इस बात को मिट्टी के सर्वेक्षण से ही नही, सिंचाई से जिस भू भाग में खेती हो रही है वहां के अनुभवों और परिणामो से भी जांचा जा सकता है। यह लेखक अपने अध्ययन के दौरान अनेक क्षेत्र आंख से देख चुका है जहां अति सिंचाई के कारण भूमि बंजर होने लगी है।

यह दुष्परिणाम एक दशक की सिंचाई मात्र से बीकानेर जिले के लूणकरनसर परिक्षेत्र में देखा जा सकता है जहां सैकड़ों बीघा भूमि अति सिंचाई से नष्ट हो गई है। यदि अब भी हम सचेत नहीं हुए तो विनाश की यह प्रक्रिया कहां जाकर रुकेगी–हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

यह अति सिंचाई मरुस्थल में आयी नहर का फल है। जबकि इस परियोजना का उद्देश्य इस क्षेत्र की परिवेशिकी के पुनर्स्थापन और भूमि को मरुस्थलीकरण से रोकने का तथा पानी के अधिकतम उपयोग करने का होना चाहिए। दुर्भाग्य से ऐसा सर्वांगीण रूप से नहीं हो सका है। बल्कि इसके विपरीत सिंचाई के

कारण चरागाहों पर खेती और यान्त्रिकता का हमला ही बढा है। इससे जंगलों से घास, झाड़ियां समाप्त हुई है। आंधियां, भू-क्षरण, मिट्टी की आर्द्रता का विलोप तथा अल्प वर्षा का अल्पतम हो जाना इसी के दुष्परिणाम है।

निश्चय ही ये दुष्परिणाम एक दिन या एक वर्ष के नही हो सकते। विगत एक-डेढ़ दशक मे विकास के सब्ज सपनों ने ही यह स्थिति ला खडी की है और आज पूरा पश्चिमी राजस्थान ठगा सा खडा है। खेती यहां लाभकर नही—पशुपालन ही उपयुक्त है—इसे स्वीकार किया जाये या नही, इस प्रश्न पर भले विवाद हो जाये, लेकिन प्रकृति का स्वरूप पहचानने में अब भी हम कोताही करते है तो इसे मात्र जड़-हठ ही कहा जायेगा। हमारा यह जड़-हठ ही हमे अकाल और सूखे की विकट परिस्थिति से मुक्त होने मे बाधक रहा है। अन्यथा यदि हम अपने पुरखों की स्थापित उन परम्पराओं को याद करें तो पता चलता है कि थार के किसी भी जिले मे शायद ही कोई गांव हो जहां गोचर या ओरण आरक्षित न हो। यह गोचर और ओरण ग्रामांचलों के पवित्र स्थल रहे है।

गोचर और ओरण के संरक्षण की दृष्टि से वर्ष 1987 के प्रारम्भ मे इस लेखक ने बीकानेर जिले का जब सघन अध्ययन किया तो पाया कि राजस्थान नहर (अब इन्दिरा गांधी नहर) के आने के बाद बीकानेर जिले मे कृषि भूमि का विस्तार भले ही हुआ हो, चरागाहों की भूमि तो घटी है। बीकानेर जिले के अधिकांश गांवों में गोचर और ओरण आरक्षित रहे है। राजस्व अधिनियम के अनुसार गोचर चरागाह को किसी अन्य उपयोग में नही लिया जा सकता। लेकिन नहर आने से जिले के जो गांव उपनिवेशन क्षेत्र में आ गये वहां की गोचर और ओरण जमीनें भी उपनिवेशन के अन्तर्गत आ गई। जिले की चार तहसीलो मे से तीन—बीकानेर तहसील के 81 गांव, लूणकरनसर तहसील के 27 गांव और कोलायत तहसील के 67 गांव उपनिवेशन के नीचे आ गये है और इन गांवों की गोचर व ओरण की जमीन जो 49,245 बीघा थी अब घटकर 15,984 बीघा रह गई है।

बीकानेर जिला मुख्यतः पशुधन-बहुल जिला रहा है। जिले में सन् 1988-89 की अवधि में करीब 4,55,736 गायें तथा 10,79,973 भेड़ें थी। ऊंट, बकरी तथा अन्य पशु भी जिले में अच्छी तादाद में था। और यहां की अर्थ-व्यवस्था पर भी इसका अच्छा-खासा असर है। स्वाभाविक है कि पशुपालन ग्रामाचल का मुख्य धन्धा माना जाता रहा है।

एक समय था जब लोगों में यह दृष्टिकोण विकसित था और पशुधन—खास तौर से गोधन—के लिए गोचर चरागाहों के आरक्षण की परम्परा थी। तत्कालीन

राज्य व्यवस्था भी इसे प्रोत्साहित करती थी। पुराने अभिलेखों को देखने से पता चलता है कि धनी-परोपकारी लोग पशुधन के लिए गोचर भूमि आरक्षित कराने में पहल करते थे। बीकानेर नगर से करीब एक किलोमीटर पर 'सदा नत्थानिया' नाम से 27205 बीघा आरक्षित गोचर चरागाह इस तथ्य का प्रमाण है।

तत्कालीन नरेश महाराजा कर्णसिंह ने विक्रम संवत् 1733 में नत्थू शाह नाम के एक धनी व्यक्ति के आग्रह पर गोधन के चरने के लिए यह भूमि आरक्षित की थी। यह किंवदंती चली आ रही है कि नत्थू शाह की प्रार्थना पर महाराजा कर्णसिंह ने उन्हें अपना घोडा देकर कहा कि इस घोडे पर सवार होकर जितनी जमीन पर तुम घूम सकते हो—वह समूची धरती गोचर भूमि के बतौर छोड़ी हुई मानना। महाराजा कर्णसिंह के इन्ही वचनो के आधार पर यह गोचर चरागाह आरक्षित हुआ। राज्य शासन के तत्कालीन 'मेम्बर्स आफ कौंसिल' ने सवत् 1937 को जो आदेश इस सम्बन्ध मे जारी किया उसके अनुसार ऐवड-भेड़ चराने पर गुनहगारी के बतौर 25 रुपये जुर्माना तथा चरागाह में खेत बोने पर 11 रुपये जुर्माना का प्रावधान किया गया।

गोचर चरागाह की ही तरह देवालयों और मंदिरों के नाम से 'ओरण' या 'ओयण' छोडने की परम्परा भी इस जिले में विद्यमान थी। देशनोक के प्रसिद्ध करणी माता के मंदिर के नाम से 9687 बीघा ओरण छोड़ी गई। यह ओरण आज भी विद्यमान है, और करणी माता मंदिर ट्रस्ट इसकी देखभाल करता है। यद्यपि इस देखभाल के नाम पर बढती आवादी के दवाव के कारण ट्रस्ट ने सैकड़ों बीघा ओरण को अब तक बेच दिया है। अलबत्ता यह प्रश्न जांच का है कि ओरण की जमीन को बेचा जा सकता है अथवा नही।

देशनोक की इस ओरण के बारे में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि करणीजी ने गोधन के चरने के लिए इस भूमि को चरागाह के रूप में आरक्षित किया था। करणीजी को देवी का अवतार मानते है। चौदहवी शताब्दी के अंतिम काल मे करणीजी के रूप में देवी का अवतार हुआ माना जाता है। करणीजी का जन्म संवत 1444 का माना जाता है और विक्रम संवत 1476 देशनोक ग्राम की स्थापना की तिथि मानी जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि देशनोक की ओरण करीब 6 सौ वर्ष पुरानी है।

इस ओरण को पवित्र स्थल माना जाता है। परम्परा से यह बात चली आ रही है कि ओरण मे खड़े वृक्ष नही काटे जाते और न वहा की किसी वनस्पति का कोई व्यापारिक उपयोग किया जा सकता है। अभिलेखों के आधार पर

इस बात के उल्लेख भी मिलते है कि देशनोक मे रेल सेवाओ के लिए जब रेल की पटरी ओरण के बीच मे से होकर निकालनी पड़ी तो वहां उगे झड़ वेरी के वृक्ष काटने पड़े। पेडो की इस कटाई के लिए तत्कालीन नरेश ने देवी करणीजी के सामने पूजा-अर्चना की और उन्ही की आज्ञा समझकर रेल लाइन के बीच मे अवरोध के रूप मे आने वाले पेड़ कटवाये। इस तरह काटे गये एक-एक पेड़ का एक-सौ एक-सौ रुपये मुआवजा के बतौर मदिर में जमा कराये गये।

गोचर-ओरण की रक्षा की यह परम्परा आज लुप्त हो चुकी है। जिस 'सदा नत्थानिया' चरागाह के बारे मे राज्य शासन का स्पष्ट आदेश है कि उसे गायो के चरने के लिए ही इस्तेमाल किया जाये उस पर एक समय किसी ऐरे-गैरे ने नही, सेना ने ही अपना कब्जा जमा लिया था। सेना को तोपाभ्यास के लिए गोचर से बेहतर जगह शायद न मिलती। गांव के तीव्र विरोध पर यद्यपि सेना ने तोपाभ्यास बंद कर दिया, लेकिन इस विशाल चरागाह के विकास की किसी को सुध नही है।

बीकानेर जिले का एक बड़ा गांव है नापासर। इस गाव की 9890 बीघा गोचर की जमीन थी। आज यह जमीन बिना मालिक के सूनी पड़ी है और धड़ाधड़ नाजायज कब्जे हो रहे हैं। यही स्थिति गंगाशहर की 6289 बीघा गोचर भूमि की है। निकट के ही गांव भीनासर के पास एक समय मे 5207 बीघा गोचर चरागाह था। यह चरागाह कभी का नष्ट हो गया होता यदि स्थानीय ग्रामीण जाग न उठते। पिछले वर्ष (1986) तक इस चरागाह पर नाजायज कब्जो का निरंतर दवाब बना हुआ था। लेकिन गाव की जागृति से यह दवाब अब कुछ कम प्रतीत हो रहा है। नाजायज अतिक्रमणों का काफी हिस्सा मुक्त कराया गया है। तब भी तत्कालीन नगरपालिका की ओर से नाजायज रूप से हुए भूखड-विक्रय से घटी गोचर की क्षतिपूर्ति की ओर कभी किसी ने सोचा तक नही।

सन् 1944 के आसपास इस गोचर चरागाह का आरक्षण राज्य कोप मे दस हजार रुपये जमा देकर कराया गया था। लेकिन अब चरागाहों के आरक्षण की ऐसी परम्परा देखने को भी नहीं मिलती। जिले के राजस्व अभिलेख बताते हैं कि संवत् 2012 के बाद गोचर चरागाहो के आरक्षण का नजरिया ही लुप्त हो गया।

जयमलसर गांव में कहने को 2416 बीघा गोचर है, पर वास्तविक रूप से आज कितना शेप बचा है बताना कठिन है। लूणकरनसर तहसील मे एक गांव

है गई। यहां 1525 बीघा गोचर आरक्षित है। इस गांव में करीब 7-8 हजार पशुधन–गाय, भेड़, बकरी, ऊंट आदि है। लेकिन आश्चर्य कि गांव के बड़े-बुजुर्ग भी गांव मे कोई गोचर है–यह नही बता सके। गोचर चरागाह के प्रति यह बदला हुआ रिश्ता है और ऐसे कितने ही गांव हैं जहां यह रिश्ता अब बदल रहा है।

यह बदलाव नहर के पानी का परिणाम है। जिन गांवों मे नहर का पानी आ गया वहा गोचर और ओरण जिसे हम 'अरण्य' संस्कृति कहते हैं–समाप्त होने लगे है। नहर ने खेती का विस्तार किया है–सिंचित प्रणाली के विकसित होने से चरागाहो का विलोपन हो गया है। नहर के सम्पूर्ण सिंचित क्षेत्र में एक इंच चरागाह गोचर आरक्षित नही है। आरक्षण की तो बात ही क्या–सिंचित क्षेत्र के मानचित्र मे गोचर-ओरण चरागाह के लिए कोई स्थान भी नही है। बेशक वन विभाग को कुछ भूमि वन विकास के बतौर मिली हुई है जिस पर वह वृक्षारोपण, चरागाह विकास जैसे कुछ काम करता देखा जा सकता है। लेकिन उसके परिणाम अभी सामने आने बाकी है। बीकानेर जिले में ऐसे 36 भूखण्ड है जहा वन विभाग चरागाह अथवा वन विकास कर रहा है। वन विभाग का यह काम 1974-75 से ही चालू है। पर गोधन-पशुधन को इससे कितना लाभ मिल रहा है यह देखने की बात है।

नहर से पानी आने के साथ ही कृषि विकास के साथ-साथ यदि चरागाह विकास की दिशा मे गंभीरता से सोचा गया होता तो जो अकाल आज इतना दुःखदायी हो रहा है वह न होता।

ऐसा तो नही कहा जा सकता कि ऐसी कोई योजना बनी ही नहीं। राज्य के वन विभाग की ओर से दो लाख हेक्टेयर क्षेत्र में चरागाह विकास की एक योजना सन् 1978 में तैयार की गई थी। चरागाह विकास की यह योजना कोई 105 करोड़ रुपये की थी, लेकिन एक दशक हुआ वह ठंडे बस्ते में ही पड़ी है। बेशक वन विभाग को कोई ढाई लाख एकड़ भूमि नहरी क्षेत्र मे मिली हुई है, पर उससे यदि कुछ प्राप्त होता तो दुर्दिनों मे राहत मिली होती।

यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि यह नहर एक भुलावा–एक छलावा सिद्ध हुई है। यदि यह न होता तो विगत सूखे और दुर्भिक्ष मे इससे ऐसी राहत तो मिलती ही, कि हमारा पशुधन और जनधन दूसरों के सामने मोहताज न होता। संकट की घड़ी में नहर यदि साझीदार नही है तो क्या इसे छलावा न कहा जायेगा ? अरबों रुपये की यह योजना क्या इस मरुप्रदेश के लिए विलासिता साबित हो रही है। आखिर यह कौन नही चाहेगा कि कष्ट के समय हमारा

कोई साझीदार बने। और ऐसे समय में भी यदि कोई मुंह मोड़ ले तो उसे क्या कहेंगे ? नहर क्या यही नही कर रही है ? इसके कारण कुछ भी गिनाये जा सकते है। उन कारणों को भी हम अपने सामने रखें और सिंचित कृषि के साथ-साथ परम्परागत 'अरण्य संस्कृति' पर भी सोचें—ओरण-चरागाह के संरक्षण-संवर्द्धन पर भी विचार करें। यह इसलिए भी जरूरी मानना चाहिए कि संपूर्ण पश्चिमी राजस्थान और थार के जिलो में पशुधन सर्वाधिक है और थार का अर्थाधार पशुपालन ही है।

लेकिन यह आधार अकालों की मार तथा योजना की प्राथमिकताओ मे बनी विसगतियो के कारण हिल रहा है। अन्यथा चरागाहो के विकास के लिए योजनाएं बन-बन कर ठण्डे बस्तों मे ही नही पडी रहती। सम्पूर्ण पश्चिमी राजस्थान मे कुल 8 लाख 46 हजार हेक्टेयर गोचर चरागाह है। बीकानेर जिले मे यह भूमि 39,000 हेक्टेयर है और हर गांव के गोचर चरागाहों की एक-सी स्थिति है।

यह सच है कि चरागाहो के विनाश का बडा कारण अति चराई और बढती आबादी है। लेकिन दूसरा कारण सिंचित कृषि और यांत्रिकता का दबाव भी है। यदि हम पशुधन को राष्ट्रीय सपदा मानते हैं—जो कि है ही—तो हमें सोचना होगा कि इनके संरक्षण के लिए क्या उपाय किये जायें।

जिस तरह असिंचित क्षेत्र में सूखे के कारण चरागाहों को विकसित करने मे कठिनाई आ रही है उसी तरह सिंचित क्षेत्र मे ऐसी दृष्टि के अभाव तथा प्राथमिकताओं के यथोचित निर्धारण मे त्रुटि के कारण–चरागाह नष्ट हो रहे हैं।

चरागाहों के हालात के अध्ययन के समय यह भी देखने को मिला कि स्थायी रूप से आरक्षित चरागाह या ओरण सिंचित क्षेत्र की परिधि में आते ही नष्ट हो गये। बीकानेर तहसील का मेहरासर गाव एक समय मे 2370 बीघा गोचर का मालिक था। पर आज एक गज भूमि भी इस गाव में गोचर की नही है। इस गाव की एक सौ हेक्टेयर भूमि को वन विभाग ने 'सिल्वी पेस्ट्रोल' (वन व चरागाह) विकास के लिए *1980–81* मे अपने हाथ में ली थी। लेकिन पीढियों से आरक्षित गोचर के छिन जाने का मलाल ग्रामवासियों के दिलों मे गहरे तक पैठा हुआ है। सारा गांव में कभी 1221 बीघा गोचर थी, पर वह अब घट कर 242 बीघा रह गई है। पनपालसर गाव मे 614 बीघा गोचर और ओरण थी, लेकिन वह गाव अब गोचर-विहीन है। कोलायत तहसील के 25 गांवों की गोचर सिंचित क्षेत्र की भेंट चढ चुकी है और अब

वहा गोचर क्या होती है—बताने वाला भी नही है। पशुधन बहुल गांव छत्तरगढ़ अब गोचर-विहीन गाव है। यहा कभी 2786 बीघा गोचर भूमि आरक्षित थी। लूणकरनसर गाव मे एक समय 4138 बीघा ओरण थी जो अब घटकर 1685 बीघा रह गई है।

लूणकरनसर क्षेत्र की भूमि सही अर्थो में सिंचित कृषि के लिए लाभकर ही नही है। यहां की मिट्टी अधिक पानी झेल ही नही सकती। अधिक पानी देकर खेती के कारण चक 294 आर डी, चक 282 आर.डी., चक 19 जे.एम डी., चक 276 आर डी की जमीनों में भूमि का जल स्तर काफी ऊपर आ गया है। यहा किसानो ने बताया कि 3 से 6 फुट जमीन खोदने से ही पानी निकल आता है। सिंचाई से जो पानी भूमि मे गहराई मे उतर जाना चाहिए वह भूमि की कठोर पर्त के कारण ऊपर उठने लगा है। अध्ययन के दौरान पता चला कि लूणकरनसर के इस क्षेत्र मे सैंकडो बीघा भूमि अब खेती के योग्य नही रही है। यह स्थिति 5 से 10 साल की सिंचाई के फलस्वरूप बनी है जो चौकाने वाली है।

ठीक इसके विपरीत यदि कम पानी की उपजें लेने की दिशा मे सोचा जाता और उन्नत तरीकों से ऐसी कठोर पर्त वाली भूमि पर घासें, थार की पारम्परिक वनस्पतियां और वृक्षावली विकसित की जाती तो परिस्थितियां अधिक बेहतर होती।

बेहतर परिस्थितियो को विकसित करने का बीकानेर जिले के ही एक गाव भीनासर मे प्रयोग हो रहा है। जन आन्दोलन के रूप में 'गोचर चरागाह विकास और पर्यावरण चेतना भीनासर आन्दोलन' के नाम से विगत चार साल (सन् 1984 से) मे यहा जो काम हुआ है उसने विकास के परम्परागत तरीको पर विश्वास और आस्था की सघन तह जमाई है।

भीनासर के चरागाह क्षेत्र में थार की वनस्पतियों—बेर, खेजड़ी, फोग और सेवण, धामण घास लगाने तथा विकसित करने के प्रयोग किये जा चुके है। खेजड़ी वृक्ष को यह मानकर छोड़ दिया गया था कि यह तो धीमे-धीमे बढता है—भीनासर आन्दोलन के माध्यम से एक जन पौधशाला स्थापित कर लाखो खेजड़ी के पौधे तैयार किये गये जो जिले मे वनीकरण के काम आये हैं। सेवण घास उगाने और एक बार उगाने के बाद बार-बार कटाई लेने का प्रयोग यद्यपि नया नही है, पर उसका नयापन इसलिए माना जा रहा है कि यह काम सुनियोजित रूप से एक जन-आन्दोलन के रूप में वहां होता रहा है।

भीनासर में जो कुछ होता रहा है वह थार मरुस्थल के गावों के लिए एक 'मॉडल' है। गोचर का विकास और पुनरुद्धार इस 'मॉडल' के आधार पर हर

गाव में हो सकता है। जन-शक्ति के जग उठने से सब कुछ सहज और सरल हो सकता है। भीनासर ने यह कर दिखाया है। अतः यह माना जा सकता है कि जन-जागृति और उत्प्रेरणा से गोचर विकास का वैसा काम हर कहीं हर गाव में हो सकता है।

सेवण घास पशुओं का उत्तम पौष्टिक आहार है जो कम पानी और अधिक तापमान में भी खड़ी रह सकती है। खेजड़ी, बेर, फोग ये सभी ऐसी ही वनस्पतिया हैं।

हर गांव मे गोचर भूमि पर पानी का कोई न कोई परपरागत स्रोत बनाया जा सकता है। ताल-तालाब भी हो सकते हैं और भू जल भी कुए खोद कर प्राप्त किया जा सकता है। राजस्थान विश्वविद्यालय मे जून 1986 मे देश के प्रमुख भू-वैज्ञानिकों की कार्यगोष्ठी में यह तथ्य सामने आ ही चुका है कि मरुस्थलीय पश्चिमी क्षेत्र में भू जल के विपुल भण्डार हैं। भू जल के इस विपुल भण्डार का बेहतरीन उपयोग मरुस्थलीय वनस्पतियों को उपजाने मे किया जा सकता है। चूंकि भू जल अति मूल्यवान है अतः उसका बेजा उपयोग तो अपराध ही होगा, पर प्रकृति का यह अजब सन्तुलन है कि थार की वनस्पतियो को बेशुमार पानी ही नही चाहिए। अतः इस कार्य मे भू जल लेने से किसी प्रकार के असन्तुलन का अन्देशा नही है।

गांव-गांव में जो गोचर-ओरण उपलब्ध हैं उसके सहित नये सिरे से जरूरत के अनुसार गोचर भूमियो का आरक्षण कर उनके विकास की विकेन्द्रित योजना तैयार की जा सकती है। ऐसी विकेन्द्रित योजना ग्रामाधारित होगी जो गांव की जरूरत, गांव की परिस्थिति, गांव की अनुकूलता-प्रतिकूलता से मेल खाती होगी। उसका सम्पूर्ण प्रबन्ध गाव के हाथ में रहेगा। इस तरह इसे आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी अभिक्रम बनाया जा सकता है। यह काम केन्द्रित स्तर पर नही हो सकता और सामूहिक साझेदारी की सम्भावनाएं भी केन्द्रित स्तर पर काफी जटिल होती है। अलबत्ता, 'फोडर बैंक' के तौर पर ऐसी केन्द्रित व्यवस्था अनुकूल और हितकर मानी जा सकती है। गाव की अपनी जरूरत भर के लिए तो गांव का अपना विकसित गोचर ही होना चाहिए ताकि दूसरों का मोहताज न रहना पड़े।

गोचर-ओरण के पुनरुद्धार के काम में किसी प्रकार के संसाधनो की अपेक्षा दृढ इच्छा-शक्ति की ज्यादा जरूरत है। स्पष्ट दृष्टि और समुचित नीति यदि हो तो संसाधनो की पूर्ति भी सहज ही हो सकती है। यदि ये बातें सुनिश्चित हो जाये तो गांव-गांव मे गोचर आरक्षण, संरक्षण और संवर्द्धन का काम जन

आन्दोलन के रूप मे किया जा सकता है। अकाल का समाधान तात्कालिक राहत नही, उसके स्थायी उपाय हैं जो गोचर-ओरण के समुचित विकास में निहित है।

इसके लिए हमे अपनी प्राथमिकताओं का पुर्ननिर्धारण भी करना होगा। असगतियों को पहचानने की अपनी 'देसी' दृष्टि विकसित करनी होगी। प्रौद्योगिकी और विज्ञान को उपयुक्तता की कसौटी पर परखना होगा और यह समझना होगा कि जो हमारे प्राकृतिक संसाधन हैं उनमे इससे किस तरह इज़ाफ़ा हो सकता है। हमे पहले अपनी जरूरतें देखनी होगी और यह भी देखना होगा कि जिन तरीको से हम अपने संसाधनों का विकास करना चाहते है वे कितने टिकाऊ है।

यह समझने के लिए यदि हम गांवों के बड़े-बुजुर्गों के अनुभवो को अपनी कसौटी बनायें और उसमें से नया मार्ग तलाशने का प्रयत्न करें तो वह अधिक व्याव-हारिक साबित होगा। 'लैबोरेटरी टू लेण्ड'–प्रयोगशाला से खेत या जमीन तक पहुँचने का हमारे वैज्ञानिकों का अभियान वास्तविक अर्थो में अधिक लाभकर तभी सिद्ध हो सकता है जब अनुभव और शोध के निष्कर्षो मे कोई सामंजस्य स्थापित किया जा सके। आज इसका अभाव है।

आज हम जानकारी बढ़ाने में लगे हैं। उसकी उपयुक्तता को कसौटी पर कसने और उसके नतीजों को खुले मन से स्वीकार करने में हिचक रहे है। यह हिचक तभी समाप्त हो सकती है जब हम 'विशेषज्ञ' के अहंकार से अपने को मुक्त करें। तभी हम अपनी जमीन को देख सकेंगे और उस पर बिखरे अनुभवों को सहेज सकेंगे।

तब जो मार्ग या समाधान निकलेगा वह किसी नये संकट की आशंका से मुक्त भी होगा और सब की सुध लेने वाला भी।

इत्यलम

पर्यावरण और परिवेशिकी के बारे में अब तक जो कहा गया है उसमें नया कुछ नही है। भारतीय परम्परा और ज्ञान न तो प्रकृति के नैसर्गिक गुणो से पृथक है और न इनमे कोई टकराहट है। अतः जिस विषय को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है उसमे कुछ नया कहा गया हो – ऐसा यह लेखक नही मानता। जो कुछ इस पुस्तक में कहा गया है वह एक तरह से पुनर्कथन है। इसमे अभिनव यदि कुछ है तो वह इसकी सम्प्रेषणीयता है, पर यह बात भी इस लेखक के कहने की नही है। यह निर्णय भी तो पाठक ही करेंगे।

यह सच्चाई भी सुधी समाज को स्वीकार करनी चाहिए कि पर्यावरण पर लिखना या चर्चा करना अब फैशन बनता जा रहा है। हमारी सतही चिन्ताएं सवालो को पैना बनाने की जगह उन्हे भोथरा बनाती है। हम अपने समाज को इससे बचा सकें – यह अत्यन्त आवश्यक है। हमें यह देखना और समझना जरूरी है कि पर्यावरण और परिवेशिकी को बाजार मे चलने वाला ऐसा सिक्का नही बनने दें जिसकी कीमत तो दिनो-दिन बढ़ती नजर आये पर उसमें होने वाले भीतरघात को रोक नही सकें। पर्यावरण के आन्दोलन को मजबूत बनाने के लिए इससे बचना तो जरूरी है ही, यह भी जरूरी है कि इनको हम पहचानें और निर्वसन भी करें।

आज जिस तरह के समाज की रचना हो चुकी है उसमे मनुष्य को, उसके मन-मस्तिष्क को विकृत होने से बचाना पहली जरूरत है। यह अत्यन्त दुरूह काम है। फिर भी यह हो सकता है। इसके लिए संयम और विवेक को ही सहारा बनाना होगा। यह तभी हो सकता है जब हम सत्य से सामना करने से बचने की चेष्टा करने की बजाए उसका मुकाबला करने का साहस जुटायें। हमें यह भी मानना चाहिए कि आज जो सत्य है वह शाश्वत तो नही है, पर कल वह असत्य भी नहीं हो जायेगा। आज जो सत्य है वैसा ही कल चाहे न भी हो, पर उसकी पृष्ठभूमि अगले सत्य की पीठ पर चिपकी रहती है और यह एक अनवरत प्रक्रिया है। इस तरह आज के सत्य का अनुभव आने वाले कल को प्रशस्त करने में सहायक होता है।

प्रौद्योगिकी के पास ऐसा विवेक या दृष्टि नहीं है जो सत्य की इस अनवरतता को देख सके और उसकी पृष्ठभूमि को समझ सके। इसी कारण इस पर बराबर प्रश्न चिह्न लगते रहे हैं। इसी कारण इतने विकास और विस्तार के बाद भी उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका है जिसके तर्क पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विस्तार करते रहने में सर्वत्र उदारता बरती जाती रही है। ये लक्ष्य क्या है— इन पर इस पुस्तक में सांगोपांग चर्चा हुई है। अतः उसे दोहराने की अब जरूरत नहीं है।

तब क्या हम एक ऐसे समुदाय की कल्पना कर सकते हैं जो अपनी विरासत की प्रामाणिकता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर ले? आज के बौद्धिक समाज के लिए यह मान लेना कठिन है कि बिना तर्क की कसौटी के वह किसी बात को स्वीकार कर ले। लेकिन यही बौद्धिक समाज यदि यह स्वीकार कर लेता है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता से रहने, जीने और व्यवहार करने का अधिकार है और उसमें कोई किसी का अतिक्रमण नहीं करेगा तो इस समय व्याप्त संकट की गहनता बहुत अंशों तक कम हो जायेगी। पर हम जानते हैं कि आज सत्ता को केन्द्रित किये रखने की भरसक कोशिशें हो रही हैं। राज-सत्ता और धन-सत्ता में केन्द्रीयकरण का प्रयास इतना विकृत रूप लेता जा रहा है कि जीवन के हर क्षेत्र को अपनी छाया से लील रहा है। ज्ञान-विज्ञान भी आज राज-सत्ता और धन-सत्ता के सामने बिकाऊ हो गए हैं। यही कारण है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के निष्कर्ष समाजोन्मुखी न रह कर समूह या वर्ग हितों को पुष्ट करने वाले ही साबित हो रहे हैं।

एक समय था कि बौद्धिक निष्ठाएं किसी वर्ग के लिए न होकर समष्टि के लिए होती थीं। इसी तरह धर्म और धर्मगुरु भी महज औपचारिक और संस्थागत, सम्प्रदायगत न रहकर समग्र हित की चिन्ता में बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने से चूकते नहीं थे। यह सब भारत की विरासत में हम देख सकते हैं। इसकी प्रामाणिकता और उपादेयता को बेलाग रूप से परखा जाना जितना जरूरी है उतना ही इनको पुनः संस्कारित करना भी जरूरी है। एक प्रकार का अदृश्य नियंत्रण या लगाम भारतीय समाज पर तब कायम था। वैसा नियंत्रण अब नहीं रहा है और इसी कारण स्वेच्छाचारिता को प्रोत्साहन मिलता जा रहा है। इसी कारण हमारा जीवन चक्र, जीवन की प्राथमिकताएं, जरूरतें और संकल्पनाएं बदल गई हैं। अपनी निष्ठाओं से हम विमुख हो रहे हैं।

इसीलिए हमारा जीवन और क्रियाएं अनेक विरोधाभासों और उलझनों से घिर गई हैं। इनसे निकलने का मार्ग सत्य, संयम और प्रेम ही हो सकता है

जो समस्त जीव जगत् के लिए हितकारी है, पर आधुनिक विकास में इन सबको देखने-समझने की दिव्य-दृष्टि का अभाव है।

उपाय भी एक ही बच रहता है कि हम आधुनिक विकास के जुए को सिर से उतार फेंकें। अब यह किसी से छिपा नहीं है कि इस विकास के जरिये एक अत्यल्प वर्ग ही लाभ में रहा है, जबकि बहुत बडा वर्ग कष्ट और विषमता में ही जीता रहा है। एक पराश्रित समाज के निर्माण से बेहतर है कि सुखोपभोग कम हो जायें, पर एक स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर समाज की संरचना हो जाये।

जब हम यह बात करते हैं तो एक प्रकार से अनुत्तरदायी व्यवस्था को समाप्त करने की बात ही सोच रहे होते है। इसलिए हमें यह मानकर चलना चाहिए कि टकराहट अवश्यम्भावी है और इससे बचते रहना अन्तत. अन्धे कुए में उतरते जाना ही कहलायेगा।

अतः यह जरूरी है कि हम अपने पर्यावरण और परिवेशिकी को ठीक तरह से समझें। ऐसी उत्तरदायी व्यवस्था का निर्माण करें जिसमे सबका समावेश हो और चेतना के स्तर पर समाज के उस वर्ग को जागृत कर उसे भी सक्रिय बनायें जिसे आधुनिक विकास ने अलग-थलग पटक रखा है। ऐसा होने से ही पर्यावरण की रक्षा और परिवेशिकी का सन्तुलन बना रह सकेगा।

पर्यावरण सन्तुलन को अब सर्वांगीण रूप से विकास की समिधा से जोडना होगा। हमे अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। गाँव और शहर के विभाजक भटकाव को समाप्त करना होगा। गांवो की बर्बादी और शहरों पर बढ रहे निरन्तर दबावों की असलियत को देखना होगा। यह असलियत हमें बताती है कि बर्बादी और बढते दबावों के पीछे कुछ मुट्ठी भर लोगो के स्वार्थ और लालच होते हैं। इसी लालच और स्वार्थपरता ने वस्तुओ के लक्ष्य और उसके उत्पादन पर जोर देते रहने की नीति अपना रखी है। इसमें व्यक्ति प्रमुख न होकर गौण है। हमारी सभी योजनाओं में उत्पादन को लक्ष्य बनाया जाता है। मानव श्रम के रूप में बने दो हाथ योजनाओं के लक्ष्य का आधार नही बनते। गावो का खोखलापन बढते जाने के पीछे भी कारण यही है कि वहा की सम्पदा बहुत सस्ते में छीन ली जाती है और गांव की जरूरत पर वही चीज बहुत महंगी उपलब्ध कराई जाती है। आधुनिक कहे जाने वाले अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से तो इसे युक्तिसंगत कहा जा सकता है, पर यह ऐसी विसंगति है जो असन्तुलन ही पैदा करती है। गांव और शहर के बीच टकराव का यही प्रमुख कारण है। विगत मे हुए किसान आन्दोलन जैसी घटनाएं यही

बताती हैं। चाहे ऊर्जा हो या शिक्षा—गांव की बनिस्बत शहर का पेट पहले भरने की नीति और शहर के पेट का लगातार बढ़ता आकार भी गांव के खोखले होते चले जाने और शहर के बोझ के बढ़ते जाने का कारण है। ऊर्जा का उत्पादन कितना ही बढ़ा हो—गांव के हिस्से में तो थोड़ा सा ही आता है। इसी तरह शिक्षा के क्षेत्र में चाहे कितनी ही प्रगति हुई हो, आज तक ऐसा 'ग्राम्य विश्वविद्यालय' स्थापित नहीं हो सका जो ग्रामांचलों की भाव-भूमि पर शिक्षण-प्रशिक्षण का प्रबन्ध करे।

ये विसंगतियां प्राथमिकताओं के निर्धारण की त्रुटियों का प्रतिफल है। इन त्रुटियों से मुक्त होने की दृढ़ इच्छा-शक्ति जब तक नहीं होगी तब तक आधुनिक विकास की नोंच-खसोट भी रोकी नहीं जा सकेगी।

कोई भी उपाय कारगर नहीं हो सकता जब तक कि मर्ज की गहनता को ठीक से न समझ लिया जाये। पर्यावरण की समझ पर आधारित संस्कृति की *संकल्पना ही इस मर्ज की गहनता को समझने में सहायक हो सकती है।*

देखा - समझा

यह पुस्तक लिखते समय बहुत कुछ देखने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ। निम्नोक्त पुस्तकों, शोध-पत्रों, समाचार पत्रों में छपे लेखों और समाचारों से जानकारियां मिली और अपने अनुभव के आधार पर विषय को समझने में इनसे सहायता भी—

1. हिन्द स्वराज्य—गांधीजी (अनुवादक—अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी) नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद
2. *संक्रान्ति और सनातनता*—डॉ. छगन मोहता, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
3. हमारा पर्यावरण—सं. अनुपम मिश्र, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली
4. धर्म और समाज—डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड संज, नई दिल्ली
5. समुचित तकनीक : बेहतर भी, कारगर भी—ई.एफ शुमाकर (अनुवादक-भवानीदत्त पंड्या) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
6. संरक्षण या विनाश—सरला देवी, ज्ञानोदय प्रकाशन, नैनीताल
7. रचनात्मक जीवन—डॉ. राधाकृष्णन, सरस्वती विहार, नई दिल्ली
8. संस्कृति का व्याकरण—नन्दकिशोर आचार्य, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
9. राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (सन् 1574-1818)—डॉ. जी. एस. एल. देवडा, धरती प्रकाशन, बीकानेर
10. विकास की कीमत—मध्यप्रदेश लोकायन एवं लोकहित समिति, सिंगरौली की गतिविधियों का दस्तावेज
11. राष्ट्रीय वन नीति—लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, मई 1985
12. नोट्स ऑन द एक्सपीरियन्स ऑफ ड्रॉट परसेप्शन, रिकलेक्शन एण्ड प्रीडिक्शन—एल. पी. भरारा, केन्द्रीय मरू अनुसंधान संस्थान, जोधपुर
13. *मूविंग टेक्नोलोजी (वॉ. 1, नं. 3, दिसम्बर 1986)* द वाटर क्राइसिस —डॉ. के. एस. कालबाग
14. अमर शहीद—प्र. सं. श्रीकृष्ण सहारण, अ. भा. जीव रक्षा विश्नोई सभा, अबोहर।

15. तो आज तस्वीर इतनी उलटी क्यों दिखती है (अंग्रेजों से पहले का भारत-लेखमाला)–धर्मपाल, जनसत्ता, नई दिल्ली, दिनांक 25.3 1986
16. मरुस्थल के बढ़ते पदचाप—डॉ. सरदारसिंह ढावरिया, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, दिनांक 1.10.1986
17. गांधी की विश्व-दृष्टि—सुधीरचन्द्र, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली दिनांक 7.9 1987
18. चेरनोबिल दुर्घटना की बढ़ती छाया–सुभाष शर्मा, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, दिनांक 27.4.1988
19. राष्ट्रव्यापी पर्यावरणीय संकट एवं उसका निदान–डॉ. सरदारसिंह ढावरिया, नवभारत टाइम्स, जयपुर, दिनाक 5 6.1988
20. कहीं यह भस्मासुर हमें ही भस्म न करे—सुभाष शर्मा, जनसत्ता, नई दिल्ली, दिनांक 3.6.1988
21. अपनी वराह मिहिर परम्परा में फिर झांकिये—नन्दकिशोर आचार्य, जनसत्ता, नई दिल्ली, दिनांक 16 6.1988
22. वैदिक गणित से कंप्यूटर भी बन सकते हैं—माणिक भट्टाचार्य, जनसत्ता, नई दिल्ली, दिनांक 18.6 1988
23. राजस्थान में रेगिस्तान के नीचे पानी ही पानी-नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, दिनाक 13 6.1986
24. भारतीय संस्कृति का आधार सरस्वती थी, गंगा नहीं–जनसत्ता, नई दिल्ली, दिनांक 22.12.1986।



8 जुलाई, 1943 को बीकानेर के भीनासर गाव मे जन्मे शुभू पटवा का मरस और लाड़-प्यार भरा बालपन तरुणाई आते-आते एक कठिन संघर्ष मे बदलता गया। इसी संघर्ष में औपचारिक शिक्षा को अधूरा छोडने के बावजूद अपने समय और परिवेश तथा समकालीन विचार जगत् की परिपक्व समझ अर्जित होती गयी। पत्रकारिता, सामाजिक-सांस्कृतिक कर्म और पर्यावरण आन्दोलन जैसी प्रवृत्तियों मे जुड़े। प्रदेश के प्रमुख पर्यावरण-कार्यकर्ता।

'सप्ताहान्त' साप्ताहिक और 'सत्यविचार' पत्रों का सम्पादन। दैनिक 'राष्ट्रदूत', 'राजस्थान-पत्रिका' और 'नवभारत-टाइम्स' में लम्बे समय तक स्थायी सवाद-लेखन के बाद अब स्वतंत्र पत्रकारिता।

1983 मे अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष पर जेसीज इंटरनेशनल, बीकानेर द्वारा 'आउटस्टैंडिंग जर्नलिस्ट' के रूप मे सम्मानित। 1986 में आल इंडिया स्माल एण्ड मीडियम न्यूजपेपर्स फेडरेशन द्वारा रजत जयंती वर्ष में जयपुर मे राज्य-स्तर पर सम्मानित।

एक उपन्यास 'उस दिन', दो कहानी-संग्रह 'शतरंज का प्यादा' और 'फफोले' तथा नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा नव-साक्षरों के लिए 'छोटे गांव की बड़ी बात' प्रकाशित।